रतिज रोग परिचय

(An Introduction to Venereal Diseases)

लेखक

वीरेन्द्रनाथ सहगल

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

रतिज रोग परिचय

(An Introduction to Venereal Diseases)

•

लेखक
वीरेन्द्रनाथ सहगल, एम० डी०
प्रोफेसर चर्म व रतिज रोग एवं परामर्शदाता
गोवा मेडिकल कालेज, पणजी, गोवा

•

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
दिल्ली : वाराणसी : पटना

© प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

चौक, वाराणसी ।

प्रथम संस्करण १९६९

मुद्रक

सूरज प्रसाद गुप्त

राजेश प्रिंटिंग वर्क्स

त्रिलोचन घाट

वाराणसी ।

रतिज रोग परिचय

लेखक

वीरेन्द्र नाथ सहगल, एम० डी०

प्रोफेसर चर्म तथा रतिज रोग एवं परामर्शदाता

गोवा मेडिकल कालेज, पणजी, गोवा ।

★

हिन्दी सहायक

केदार नाथ द्विवेदी, एम० बी० बी० एस०

प्राक्कथन

यह निःसन्देह विश्वसनीय है कि किसी भी विषय के सम्बन्ध में पाठकों को अवगत कराने में विदेशी भाषा की अपेक्षा देशी भापा में अधिक सुगमता होती है । इसलिये यह आवश्यक है कि अपनी भाषा में अनेक विषयों पर विशेष रूप से चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकें लिखी जाय । इसकी आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ती जा रही है क्योंकि कुछ विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम बनती जा रही है। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर 'रजित रोग परिचय' जो कि इस विषय पर प्रथम पुस्तक है लिखने का प्रयास किया गया है ।

यह पुस्तक विशेषकर एम० बी० बी० एस० स्तर आयुर्वेदिक के विद्यार्थियों व जनसाधारण चिकित्सक के लिये लिये लिखी गयी है । यह पुस्तक सामान्य रतिज रोग विषयों जैसा कि अर्जित उपदंश, जन्मजात उपदंश, गुह्यमेह फिरंग रोग, इन रोगों के निवारण व नियंत्रीकरण आदि भागों में विभाजित को गई है। प्रत्येक अध्याय विशिष्ट रोग के लक्षणों व चिन्हों से प्रारम्भ होकर नैदानिक विशेषताओं तथा हर एक रोग के विशिष्ट चिकित्सा के साथ समाप्त होता है ।

इन रोगों के निवारण व नियन्त्रीकरण के विषय में विशेषकर जोर दिया गया है ।

पुस्तक के अन्त में हिन्दी-अंग्रेजी शब्द सूची भी दी गई है और मेरा यह विश्वास है कि यह शब्द सूची पाठकों को इस पुस्तक के समझने में अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी ।

तिथि १६-१२-६९

रतिज व चर्म रोग विभाग
गोवा मेडिकल कालेज,
पणजी, गोवा (भारत)

वी० एन० सहगल, एम० डी०

स्वीकृति

डा० केदारनाथ द्विवेदी, एम० बी० बी० एस० का सहयोग जो उन्होंने इस पुस्तक के लिखने में दिया प्रशंसनीय है जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

डा० पी० एन० रांगिया, एम० डी०, एफ० ए० एम० एस०, डाईरेक्टर, इन्स्टीट्यूट आफ वेनीरियालोजी, मद्रास जनरल हास्पीटल, मद्रास के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के पूर्ण करने के लिये एकमात्र सहायता दी और अपने अमूल्य एकत्रित चित्रों (नं० ८, ११, १३, १६, १८, १९, २५, ३०, ३३, ३४, ३५) को इस पुस्तक में प्रकाशित करने की अनुमति दी।

श्री डी० के० माथुर, चित्रकार भी प्रशंसा के पात्र है जिन्होंने अपना अमूल्य समय निकाल कर चित्र बनाने में सहयोग दिया।

डा० श्रीमती नरेश सहगल जिन्होंने हर समय तत्पर रहकर मुझे अनेक प्रकार से इस पुस्तक को पूर्ण करने में सहायता एवं प्रोत्साहन दिया, भी धन्यवाद की पात्री हैं।

श्री एस० जी० गुप्ता, प्रोप्राइटर गुप्ता टाइप राइटर कं०, अलीगढ़ का भी सहयोग जो उन्होंने इस हस्तलेख को प्रारूप प्रदान करने में दिया सराहनीय हैं।

मैं श्री उ० सी० माथुर एवं डा० एम० पी० वार्ष्णेय के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने कि इस पुस्तक के प्रूफ रीडिंग में हाथ बटाया है।

सर्व श्री मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक को भी धन्यवाद दिये बिना कार्य अपूर्ण है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में विशेष रुचि तथा तत्परता दिखाई है और इसे नया सरूप दिया है।

वी० एन० सहगल

विषय-सूची

प्रथम सर्ग

अध्याय १

उपदंश (सिफिलिस)

उपदंश कुन्तलाणुओं (स्पाइरोकीटा पैलिडा) के संक्रमण से उत्पन्न होता है। यह किसी रोगी के साथ सम्भोग के पश्चात् १० से ९० दिन में प्रायः जननेन्द्रिय की श्लेष्मिक कला में खरोच के कारण प्रकट होता है। इन कुन्तलाणुओं को डार्क ग्राउण्ड (तिमिर भूमि) विधि के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। यह स्प्रिंग की तरह ६–१५ माइक्रान लम्बा और ०–२५ माइक्रान चौड़ा होता है। प्रायः ८–२५ कुण्डलियाँ होती हैं। ये बहुत ही तीव्र गति से चमकते हुए चलते फिरते दिखाई पड़ते हैं। इनकी गति कई प्रकार की होती है—जैसे आगे पीछे को, भ्रमि गति से और अगल-बगल को चलते हुए (चित्र १)। कुन्तलाणुओं का विनाश प्रायः अधिक तापं, शुष्कता या प्रतिपूय औषधियों के द्वारा किया जा सकता है। अभी तक कुन्तलाणुओं का संवर्धन करना संभव नहीं हो सका है; किन्तु कुन्तलाणुओं को सफलतापूर्वक शशकों के वृषण में सुरक्षित रखा जा सकता है।

जिस समय ये व्यक्ति में संक्रमण करते हैं, उस समय नाना प्रकार के लक्षणों तथा चिह्नों से इनके संक्रमण का संकेत मिल जाता है। इस रोग की विभिन्न अवस्थाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

१ अर्जित उपदंश

(क) **प्रारम्भिक अवस्था**—यह अवस्था पहले दो वर्ष तक में ही प्रकट होती है और यह अतिसंक्रमणशील अवस्था होती है। इस अवस्था में प्राथमिक, द्वितीयक तथा पुनरावृत्त अवस्थाओं को शामिल किया जा सकता है।

(ख) **उत्तर अवस्था**—यह असंक्रमणशील अवस्था होती है। इसका

निदान प्रायः संक्रमण के दो वर्ष की अवधि के पश्चात् हो पाता है। इसमें तृतीयक अवस्था, उत्तर गुप्त अवस्था, तथा उपदंश की उत्तर अभिव्यक्तियों को समाहित किया जा सकता है। ये सभी अवस्थाएँ निम्नलिखित (चित्र २) द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं।

चित्र २

रोगी के साथ संभोग की घटना

संचय अवधि

१० दिन से ९० दिन तक

औसतन २१ दिन

प्रारंभिक संक्रमणशील अवस्था (दो वर्ष तक)	(१) प्राथमिक अवस्था (२) द्वितीयक अवस्था
उत्तर असंक्रमणशील अवस्था (दो वर्ष के पश्चात्)	(३) तृतीयक अवस्था (क) उत्तर गुप्त अवस्था (ख) उपदंश की उत्तर अवस्थाएँ (अ) रुधिर परिवहन संस्थान उपदंश (ब) स्नायु मंडलीय उपदंश

२ जन्मजात उपदंश

अर्जित उपदंश (सिफिलिस)

प्राथमिक अवस्था, लक्षण तथा चिन्ह—स्पाइरोकीटा पैलिडा स्वस्थ श्लेष्मिक कला एवं त्वचा में प्रवेश नहीं कर पाता, अतः इसके अन्त:प्रवेश के लिये त्वचा या श्लेष्मिक कला में अपधर्षण या मग्न होना चाहिये। आवपन केवल त्वचा या श्लेष्मिक कला में ही सम्भव है; अधोत्वचा, आन्त्रावरण एवं मांसपेशियों में किये गये प्रयोगात्मक आवपन असफल सिद्ध हुए हैं। इन कुन्तलाणुओं के अन्तः प्रवेश के लिये श्लेष्मिक कला सबसे अधिक अनुकूल है।

उपदंश एक दीर्घकालिक, विशिष्ट उद्भेदजन्य ज्वर है। अतः उपदंश में भी अन्य उद्भेदजन्य रोगों की सामान्य विशेषताएँ मिलती हैं। संचय काल के पश्चात् इन कुन्तलाणुओं से प्रादुर्भूत विषि के त्वचा, श्लेष्मिक कला, मस्तिष्क मस्तिष्कावरण, वृक्क एवं रक्त में संक्षोभ के कारण दाने, रोम-हानि, गलदाह, सिरदर्द, शुक्लिमूत्रता एवं ज्वर जैसे लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं जो अन्य विशिष्ट ज्वरों के लिये भी सामान्य हैं।

संचय काल—कम से कम दस दिन या अधिक से अधिक नब्बे दिन, औसतन इक्कीस दिन के संचय काल के बाद संक्रमण होता है। उद्भवन अवधि का अन्त आवपन स्थान पर किसी अंकुरिका, व्रण या रतिजव्रण के उभरने से होता है। यह प्राथमिक व्रण लगभग पीड़ारहित तथा बिना किसी शरीर-प्रकृति सम्बन्धी विकार के, स्थानीय ही होता है। उद्भवन अवधि तो इन कुन्तलाणुओं को नये वातावरण में अभियोजित होने में व्यतीत हो जाती है। तब यह शनैः शनैः अपनी संख्या में वृद्धि करता है और अधिकाधिक मात्रा में विषि उत्पन्न करता है जिससे कि परिवेश के तन्तुओं में संक्षोभ उत्पन्न होता है, जिसका परिणाम प्राय: कोशिकास्तरण कला का अफलन और प्रदाह, तथा मण्डलाकार प्लाविका कोशिकाओं द्वारा परिरक्त वाहिनीय संचरण होता है। रतिजव्रण के उभरने से सम्बन्धित लसीका वाहिनियां स्थूल होने लगती हैं तथा समीपस्थ लसीका-ग्रन्थियों में पीड़ारहित आकार वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है।

प्रथम उद्भवन अवधि का अन्त आवपन क्षेत्र में किसी प्रतिक्रियात्मक विकेन्द्र के बनते ही हो जाता है। कभी-कभी इस तरह का कोई भी प्राथमिक प्रतिक्रियात्मक विकेन्द्र नहीं मिलता, तब इस प्राथमिक अवस्था का लोप हो जाता है, प्राथमिक और द्वितीयक उद्भवन अवधियाँ एक ही में मिल जाती हैं, और द्वितीयक अवस्था के लक्षण—दाने और गलदाह प्रकट होते हैं। आवपन स्थान पर स्थानीय प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना संक्रमण, पुरुषों में अत्यन्त विरले ही हो सकता है। प्राथमिक व्रण का प्रदर्शन स्त्रियों में प्रायः असम्भव होता है, किन्तु सदैव इसका यह अर्थ नहीं होता कि प्राथमिक व्रण स्त्रियों में होते ही नहीं, क्योंकि साधारणतया स्त्रियां द्वितीय लक्षणों के प्रकट होने पर ही चिकित्सा परामर्श लेने आती हैं, जिससे कि प्राथमिक व्रण अवगुण्ठित हो जाता है, जो स्त्री या पुरुष किसी में भी स्वभावतः विलुप्तप्राय होता है।

यह विकेन्द्रीय प्रतिक्रिया मात्रा एवं स्वरूप के अनुसार विभिन्न प्रकार की नन्ही अंकुरिका, जिस पर रोगी का ध्यान भी नहीं जाता, से लेकर बड़े व्रण तक की हो सकती है (चित्र ३)। प्रायः प्राथमिक व्रण अकेला होता है किन्तु कुछ लोगों में अनेक हो सकते हैं।

स्थानीयता

पुरुष—पुरुषों में सबसे अधिक अनुकूल स्थान शिश्नमणि (मणिच्छद भंज है, प्रायः किरीटीयसीता के पीछे या उस तक पहुँचता हुआ क्षेत्र)। बहुलता के क्रम से अन्य स्थान—

मणिच्छद की श्लेष्मिक कला; (चित्र ४)
मणिच्छद द्वार; (चित्र ५)
रज्जु तन्तु;
शिश्न त्वचा; (चित्र ३)
मूत्रनलिका द्वार;
अण्डकोष;
एवं मूत्रनलिका, प्रायः नैनिभगुहा आदि हैं।

स्त्री—स्त्रियों में प्राथमिक व्रण के लिए बहुलता के क्रम से प्रथम अनुकूल स्थान बृहद् भगौष्ठ (चित्र ६, ७) एवं क्षुद्र भगौष्ठ है, इसके अतिरिक्त अन्य स्थान—

भगांजलिका
गर्भाशयग्रीवा
भगशिश्न क्षेत्र
योनिमार्गीयतुम्बिकाधार
मूत्रनलिका द्वार

जननेन्द्रिय के अतिरिक्त रतिज व्रण प्रायः होठों पर प्रकट होते हैं (चित्र ८) तत्पश्चात् बहुलता-क्रम के अनुसार तालुमूल ग्रन्थि, जीभ, अंगुलियाँ एवं स्तन आदि स्थान आते हैं।

रतिजव्रण के प्रकार :

पुरुषों—१. प्रारम्भिक रतिजव्रण (चित्र ३) प्रारूपिक व्रण का आधार ज्वालामुखी के समान, तट कठोर एवं गोलाकार, और तल प्रभासो प्रमार्जित जैसा चिकना होता है। यह या तो शुष्क होता है या फिर इसे दबाने पर स्पष्ट रक्ताम्बु रिसने लगता है। व्रण को अंगूठे और अंगुली के बीच पकड़ने पर इसका आधार जरठ प्रतीत होता है। इसकी सूक्ष्म विशेषताएँ निम्न हैं:—

(क) तट-क्षत की ओर एवं स्वस्थ सतह की ओर दोनों तरफ ढलता है। तट एक तारावलय या लाल बन्धनी से घिरा होता है जिसकी चौड़ाई अनिश्चित होती है।

(ख) आकृति प्रायः मण्डलाकार या अण्डाकार होती है।

(ग) आधार तट की सतह पर होता है या कभी तट पर उठा रहता है। आधार कठोर होता है और यह जारठ्य क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत होता है जो प्रायः कोमलास्थि या कण्डरा जैसा महसूस होता है। इसे दबाने पररक्त नहीं, अपितु स्पष्ट रक्ताम्बु स्राव होता है।

(घ) पीड़ा एवं प्रदाह—रतिज व्रण पीड़ा रहित एवं प्रदाह विहीन होता है।

२. जारठच रहित अपक्षारण जो कि अनेक हो सकते हैं एवं आकार और स्वरूप के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं और ये अधिकतर शिश्न की त्वचा पर प्रकट होते हैं। ये देखने में ताजे अपघर्षण जैसे लगते हैं इसीलिये इन्हें 'गोमांस पिण्ड' रतिजव्रण भी कहते हैं।

३. त्वक् शोथजनक सपूय पिडिका, जिसका आधार जरठ होता है और शिश्न या विटप क्षेत्र में अधोचर्म बटन सा लगता है।

४. मणिच्छद भंज में जारठ्य की एक माला जो प्रायः किरीटीय सीता के ठीक पीछे होती है या कभी-कभी मणिचछदभंज की समूची परिधि को घेरती है (चित्र ९)।

५. प्रायः शिश्नमणि पर कोई छोटा एवं साधारण सा जारठ्यहीन गोलाकार या अण्डाकार क्षत व्रग जिससे रक्ताम्बु रिसता रहता है।

६. मणिच्छद द्वार में रतिज व्रण (चित्र ५), जिसका प्रारम्भ किसी भग्न या विपाट से होता है, जो जरठ होकर मणिच्छदद्वार में निरुद्ध प्रकष उत्पन्न करता है। ये प्रायः अनेक होते हैं जिससे मणिच्छद द्वार टूटा-फूटा लगता है और दरारें द्वार के स्वतंत्र किनारे से बाहर की ओर फैलती जाती हैं।

७. अधो मणिच्छद व्रण—प्राय: निरुद्ध प्रकष के रोगियों में मिलते हैं जिनमें तंतु रज्जु क्षेत्र में अधो-मणिच्छद जरठ पुंज स्पर्श किये जा सकते हैं। निरुद्ध प्रकष चाहे जन्मजात हो, या मणिच्छद जारठ्य द्वारा अर्जित, यह शिश्न एवं मणिच्छद के शोथ द्वारा और भी जटिल बन सकता है। शोथ के कारण यह धूमिल बैंगनी रंग का हो जाता है, और साथ ही शूलरहित लसवाहिनी प्रदाह भी होता है। शोथ अधिक नहीं होता और इसका विन्यास प्रदाह के शोथ से अधिक कठोर होता है।

८. मूत्रद्वार रतिजव्रण—मूत्रद्वार के होंठ जरठ एवं स्थूल हो जाते हैं तथा दबाने पर रक्ताम्बु निकलता है।

९. मूत्रनलिका रतिजव्रण—प्रायः नौनिभ गुहा में होते हैं और मूत्र-नलिका को अग्र पश्चिमीय स्थिति में अँगूठे और अंगुली के बीच बेलने से एक जरठ पुंज स्पर्श किया जा सकता है।

स्त्री—स्त्रियों में जरठ अंकुरिका या क्षत व्रण के रूप में रतिज व्रण प्रायः अनेक होते हैं। यह किसी भगौष्ठ के केवल जरठ अपधर्षण का रूप भी धारण कर सकता है (चित्र ६, ७), इसके साथ प्रायः गंडार्बुद भी होता है। कभी-कभी कोई भी प्राथमिक रतिज व्रण स्त्रियों में नहीं मिलता, बल्कि केवल किसी एक या अधिक भगौष्ठ का जरठ शोथ भर मिल पाता है। ग्रसित क्षेत्र के भूरे लाल या श्याम वर्ण हो जाने के साथ उसमें कठोर शोथ भी आ जाता है जो कि विशेष रूप से नैदानिक है।

रतिज व्रण के खुरचन या रक्ताम्बु में स्पाइरोकीटा पैलिडा होते हैं।

कुछ सामान्य प्राथमिक रतिजव्रण, जैसे प्रारूपिक रतिजव्रण या जरठ माला के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में सूक्ष्मदर्शी के बिना रोग विनिश्चय कठिन होता हैं, किन्तु वंक्षणीय लस ग्रंथियों को भलीभाँति परीक्षण अत्यन्त लाभप्रद होता हैं, क्योंकि जब भी वे पूयद जीवाणुओं के संक्रमण एवं क्षतों के कारण बढ़ती हैं तो थोड़ीबहुत स्पर्शासह्यता उनमें आ ही जाती है। उपदंश में ये ग्रन्थियाँ भारतीय रबर की तरह कड़ी होती हैं।

यह भी नहीं भूलना चाहिये कि कभी-कभी अनुपदंशीय क्षत पर ऊपर से उपदंश का संक्रमण भी हो सकता है।

लसग्रन्थियां—प्रायः एक ही ग्रन्थि बहुत अधिक बढ़ जाती है या एक ही ग्रन्थि औरों से अधिक बढ़ जाती है। किन्तु साधारणतया दोनों वंक्षणीय ग्रन्थियाँ ग्रसित होती हैं, और वह ग्रन्थि जो क्षत-क्षेत्र का स्रावोत्सारण करती है सबसे अधिक स्थूल होती है। शिश्न की कतिपय लसवाहिनियाँ दूसरी तरफ जाती हैं, अस्तु अधिकांशतः अधिकतम स्थूल ग्रन्थि शिश्न क्षत के दूसरी ओर के वंक्षण

प्रवेश में होती हैं। ये ग्रन्थियाँ गोलियों की तरह नहीं होतीं, यदि इस प्रकार की ग्रन्थियाँ हों तो वे चंडातिक ग्रन्थियाँ होती हैं। बेर के आकार की, भारतीय रबर जैसी कड़ी होती हैं। ये पीड़ारहित ग्रन्थियाँ परिवेश के तन्तुओं या त्वचा से चिपकी नहीं रहती और न पूयद ही होती हैं। इन्हें 'उपदंशीय वृदारिका' की संज्ञा दी गई है।

निदान

उपदंश की प्राथमिक अवस्था का निदान—इस दशा का निदान करने के लिए निम्नलिखित विषयों की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

१. किसी रोगी के साथ सम्भोग की घटना का पूर्ण विवरण।

२. प्राथमिक व्रण का प्रायः सम्भोग के दूसरे या तीसरे सप्ताह के पश्चात् प्रकट होना, जो कि प्रायः लक्षणहीन होता है और साधारणतया एक या दो व्रण प्रकट होते हैं; किन्तु बहुत कम रोगियों में दो से अधिक भी हो सकते हैं, और किसी-किसी में ये प्राथमिक व्रण पीड़ायुक्त भी हो सकते हैं।

३. वंक्षण प्रदेश में लसग्रन्थियों का बढ़ जाना, जिनको स्पर्श करने से भारतीय रबर का सा आभास होता है, किन्तु ये भी साधारणतया पीड़ा रहित होती हैं।

४. डार्क ग्राउण्ड परीक्षण—(तिमिर भूमिपरीक्षण) यह कुन्तलाणुओं के प्रदर्शन के लिए किया जाता है। इस परीक्षण में प्राथमिक व्रण को विशुद्ध कपड़े से साफ करने के पश्चात् रक्ताम्बु को एक कांच की स्लाइड पर लेकर सूक्ष्मदर्शी द्वारा गतिशील कुन्तलाणुओं को देखा जा सकता है। ये कुन्तलाणु इस परीक्षण में चमकते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह परीक्षण लसग्रन्थि के रक्ताम्बु से भी इसी प्रकार किया जा सकता है यदि यह परीक्षण धनात्मक हो तो उपदंश के प्राथमिक व्रण की पुष्टि होती है।

५. रक्त परीक्षा (एस० टी० एस० उपदंश हेतु रक्ताम्बु परीक्षा) यह भी एक आवश्यक परीक्षण है। यद्यपि यह परीक्षण प्रायः प्राथमिक उपदंश के

एक सप्ताह के पश्चात् धनात्मक होता है तथापि यह परीक्षण उपयोगी सिद्ध हुआ है।

प्राथमिक व्रण का विभेदिक निदान

शिश्न का क्षत-व्रण उपदंश के अतिरिक्त निम्न कारणों से हो सकता है:—

१. शैंकराम—(चित्र १०) यह रोग सम्भोग की घटना के एक से सात दिन के पश्चात् जननेन्द्रियों पर प्रकट होता है। प्रविकार एक भी हो सकता है; किन्तु यह प्रायः अनेक ही होते हैं। यह एक नन्ही सी प्रदाहशील अंकुरिका होती है जो कि चारों ओर से एक पतले अतिरक्तिमा के कटिबन्ध से घिरी होती है। कुछ ही दिनों में सपूयपीडिका फूट कर पीड़ा युक्त क्षत बन जाती है। यह क्षत जारठ्यरहित होते हैं। वंक्षीय लसग्रन्थियों का पूयमशील प्रदाह बहुघटित विशेषता है। यह लसग्रन्थियाँ पीड़ायुक्त तथा आपस में कटिरत होकर एककोष्ठीय विद्रधि बनाती है। इसकी ऊपर की त्वचा सरेख और तरंग प्रतीती भी अनुभव होती है।

यदि 'ग्राम विधि' द्वारा डिक्योराई जीवाणुओं को प्रदर्शित किया जा सके तो इस रोग की पुष्टि होती है।

२. जननेन्द्रिय हर्पीज़ि—(चित्र ११) यह रोग अनेक जलस्फोट के समूह के रूप में सरेख आधार पर जननेन्द्रियों की श्लेष्मिक कला पर प्रकट होती है। यह कुछ ही दिनों में फटकर जारठ्यरहित, पीड़ायुक्त क्षत बनाती है। इस प्रविकारों का बारम्बार निकलना तथा बिना किसी औषधि के समाप्त हो जाना एक नैदानिक विशेषता है। प्रायः इस रोग के लक्षण तथा चिह्न सम्भोग के पश्चात् ही उत्पन्न होते हैं।

३. खुर्ज (स्कैबीज़)—(चित्र १२) यह रोग नन्ही अंकुरिका के रूप में शिश्न पर प्रकट होता है और खन्दन इस का एक विशेष चिह्न है। शिश्न के अतिरिक्त यह शरीर के अन्य भागों में भी हो सकता है। तीव्र खुजली, जो कि

रात के समय अधिक होती है, एक नैदानिक लक्षण है। इस रोग में एक से अधिक सम्बन्धी प्रभावित हो सकते हैं। यदि 'सार्कोप्टेस स्कैबिआई' को खन्दन से प्रदर्शित कर सके तो इस रोग की पुष्टि होती है।

४. खरोच क्षत—इसमें सम्भोग के समय खरोच का विवरण मिलता है। यह क्षत जारठ्यरहित, पीड़ा युक्त होता है।

५. गोंदाबुर्ज (गम्मा)—यह उपदंश की तृतीयक अवस्था का प्रविकार हैं। यदि यह जननेन्द्रियों पर होता है तो वंक्षीय लसग्रन्थियों में कोई वृद्धि नहीं होती। रक्त परीक्षण (एस० टी एस०) प्रायः धनात्मक होता है।

६. उपचर्माबुद (एपीथीलियोमा) यह प्रायः वृद्ध अवस्था के लोगों में होता है। यदि यह शिश्नमणि पर प्रकट हो तो इसे रतिज व्रण से विभेद करना चाहिये। यह शुरू में पीड़ारहित होता है। इसका तट पत्थर की तरह कठोर होता है। परिस्पर्शन पर क्षत में रक्त निकलता है। वंक्षीय लसग्रन्थियों में भी वृद्धि हो जाती है और यह भी पत्थर की तरह कठोर प्रतीत होती है।

चिकित्सा

प्राथमिक उपदंश के निदान की पुष्टि हो जाने के तुरन्त बाद इसको चिकित्सा करना रोगी के लिये अति आवश्यक है। इससे पूर्व रोगी को इस रोग के विषय में पूर्णतया जानकारी करा देना उचित है और इस रोग की अपूर्ण चिकित्सा करने से क्या क्या जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं इससे भी उसे अवगत करा देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त रोगी को इस अवधि में जब तक कि प्राथमिक उपदंश के लक्षण तथा चिह्न पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाते तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये जिससे कि इस रोग का नियंत्रण किया जा सके।

विशिष्ट चिकित्सा—पेनिसिलिन कुन्तलाणुओं का विनाश करने की एक

विशिष्ट औषधि है। यह औषधि इस रोग में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होती है। किन्तु कुन्तलाणुओं पर समुचित प्रतिक्रिया के लिये रक्त में निरन्तर इसकी मात्रा कम से कम ०–०३ यूनिट प्रति मि० ली० होनी आवश्यक है। प्राथमिक उपदंश के लिये प्रायः पी० ए० एम० (पाम) का प्रयोग करते हैं, जिसकी मात्रा साधारणतया ६० से ७२ लाख यूनिट है। इसे दस या बारह समान भागों में प्रतिदिन अन्तः मांसपेशी द्वारा देते हैं। इतनी मात्रा से प्राथमिक उपदंश के लक्षण तथा चिह्न समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति संक्रमणहीन हो जाता हैं तथा रोग का विस्तार रुक जाता है। कभी कभी कुछ व्यक्ति उपरिलिखित चिकित्सा-विशेषज्ञ की परामर्श का पालन करने में असमर्थ होते हैं जिसके कई कारण हो सकते हैं जैसे गरीबी या औषधि खरीदने की अयोग्यता आदि, उस दशा में कई विशेषज्ञ पेनिसिलिन को एक ही बार में अन्तः मांसपेशी द्वारा देना श्रेयस्कर समझते हैं। इसकी मात्रा २४ लाख यूनिट बेन्ज़थीन पेनिसिलिन की होती है या 'पाम' की मात्रा इतनी ही एक ही बार में दी जा सकती है।

अनु निरीक्षण—इतना ही करने से रोगी तथा विशेषज्ञ को यह समझ नहीं लेना चाहिए कि रोगी पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया है, बल्कि उसको विशिष्ट चिकित्सा की समाप्ति पर बहिरंग में बारम्बार आने का आदेश देना चाहिए और इस अवधि में निम्नलिखित परीक्षण करना चाहिए:—

१. लाक्षणिक परीक्षण—यदि कोई लक्षण चिकित्सा की समाप्ति के पश्चात् रह गया हो या यदि कोई नये लक्षण या चिह्न प्रकट हुए हों।

२. रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०–उपदंश हेतु रक्ताम्बु परीक्षा)—इस परीक्षण को चिकित्सा समाप्त होने के बाद प्रथम तीन महीने में प्रत्येक महीने, तथा अगले नौ महीने तक तीन-तीन महीने में एक-एक बार करना चाहिये। साधारणतया रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०) कुछ ही सप्ताहों में ऋणात्मक हो जाता है। कभी-कभी छः महीने तक धनात्मक रह सकता है। यदि यह धनात्मक रहने के साथ-साथ धीरे-धीरे घटता जाय तो रोगी तथा

विशेषज्ञ को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्त में यदि चिकित्सा समाप्त होने के दो वर्ष पश्चात् उक्त परोक्षण ऋणात्मक हो तो रोगी को स्वस्थ घोषित कर देना चाहिये।

अध्याय २

उपदंश (सिफिलिस)

द्वितीयक अवस्था

द्वितीयक अवस्था की उद्भवन अवधि—रतिज व्रण के प्रकट होने और दाने, गलदाह या शरीर प्रकृति सम्बन्धी विकारों के प्रकट होने के बीच की अवधि को द्वितीयक अवस्था की उद्भवन अवधि कहते हैं जो तीस से साठ दिन तक की हो सकती है।

लक्षण—प्रारम्भिक द्वितीयक अवस्था के लक्षणों को निम्न तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१. प्रमुख लक्षण जो प्रायः अनवरत होते हैं।

२. सार्वगिक लक्षण जो यह बारम्बार प्रकट होते हैं।

३. स्थानीय लक्षण जो कि यदा कदा ही होते हैं।

१. प्रमुख लक्षण—इसके प्रमुख लक्षणों में चर्म-प्रविकार, श्लेष्मिक कला प्रविकार और रोम हानि हैं।

(अ) चर्मप्रविकार—प्रारम्भिक उपदंशीय दानों की निम्न विशेषताएँ हैं :—

१. प्राथमिक रतिज व्रण के प्रकट होने के एक या दो महीने बाद दाने प्रकट होते हैं।

२. पहला दाना प्रायः धड़ में निकलता है, और फिर चारों प्रपादों में छा जाते हैं। ये बहुत धीरे-धीरे फैलते हैं इसलिए जब प्रपादों के दाने ताजे होते हैं तो धड़ के दाने गायब होने लगते हैं।

३. रंग—ये ताँबे के रंग जैसे हल्के लाल होते हैं। कभी कभी पाटलिका उद्‌भेद चटक गुलाबी रंग के होते हैं।

४. वितरण—अंकुरिकाएँ या चर्म-कलंक गुच्छों में होते हैं और वृत्त या वृत्त का कोई भाग बनाते हैं।

५. जारठ्य—प्रारंभिक पाटलिका उद्‌भेदों को छोड़कर सभी चर्म-कलंक और अंकुरिकाएँ अंगूठे और अँगूठे के बीच पकड़कर महसूस करने से कठोर मालूम पड़ते हैं और उनके सतह पर नहीं, बल्कि चर्म की भीतरी पर्तों में होने का आभास मिलता है।

६. पुल्पता—एक ही समय में ये दाने विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं और उनके स्वरूप भी स्थान-स्थान पर भिन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए धड़ की उपदंशीय शल्कीय अंकुरिका आर्द्र क्षेत्रों में आर्द्र होती है।

७. खुजली और दर्द की अनुपस्थिति।

८. असममित।

९. जीवाणुकी—धीरे से सतह को खुरच कर रक्ताम्बु निकालने पर स्पाइरोकीटा पैलिडा प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

१०. एस० टी० एस० प्रतिक्रिया निश्चित रूप से धनात्मक होती है।

दानों के प्रकार—

१. अतिरक्तिमा या चर्म कलंक—सबसे पहले छोटे छोटे लाल चकत्ते उगते हैं जो बाद में स्पष्ट चर्मकलंक बन जाते हैं। चर्मकलंक समतल होते हैं जिनका व्यास ८ से० मी० होता है। यह त्वचा की सतह से उभरा नहीं होता और दबाने पर गायब हो जाता है। अधिकांश उद्‌भेद पाटलिका चर्मकलंक

होते हैं और सर्वप्रथम उगते हैं। ये प्रायः रतिज व्रण के छः सप्ताह के बाद दिखाई पड़ते हैं।

२. अंकुरिका उद्भेद (चित्र १३) दो प्रकार के होते हैं एक समतल शिखर वाले उद्भेद जो सबसे अधिक मिलते हैं और दूसरे शंक्वाकार या गर्भाकार जो कि केश गर्भ से लगे होते हैं।

अंकुरिका उद्भेद उतने शीघ्र नहीं उगते जितने कि पाटलिका उद्भेद। ये रतिज व्रण के प्रकट होने के तीन महीने बाद दिखते हैं। उपदंशित अंकुरिका लाल, चर्मकीली, गोलीनुमा और उभरी होती है जो पिन के सिर से लेकर मटर के दाने के बराबर हो सकती है। तत्पश्चात् लाली कम होती जाती है और भूरी पीली व्रण वस्तु कुछ दिनों तक बनी रहती है। इस प्रकार की उपदंशित अंकुरिका पुलपता के लिये अधिक उत्तरदायी है जो स्थान की कठोरता, शुष्कता या आद्रता पर निर्भर करती है। बाद में यह शल्कावरित धब्बा, उपदंशीय विर्चचिका, मूलाधार पीठ पर, कांण में, बहिर्भग पर, नितम्बों और पादांगुलियों के बीच आर्द्र अंकुरिका या श्लेष्मिक धब्बा, अथवा अवृन्त या वर्धी गण्डार्बुद का रूप धारण कर सकती है (चित्र १४, १५, १६क, १६ख)।

३. उपदंशित शल्क प्रायः देर की बात है। धब्बे कम और बिखरे होते हैं, और किसी क्षेत्र विशेष जैसे हथेली पर ही अधिक होते हैं (चित्र १७)। ये धब्बे समतल, बहुत कम उभरे और शल्कों से आवरित होते हैं। वलय-दद्रु से मिलता जुलता उपदंशित शल्क का एक और प्रकार भी है जो छल्लेदार होता है। ऐसी मुद्रिकायें कम ही होती हैं और जंघों के भीतरी या बाहरी प्रदेश में बिखरी होती है।

४—स्फोटान्वित या सपूय उद्भेद भी हो सकते हैं; किन्तु ये दुर्लभ ही होते हैं।

(ब) श्लेष्मिक कला प्रविकार—

१. मुख और कण्ठ त्वचा में उद्भेदों के प्रकट होने के साथ ही कुछ वैसे ही

विकार मुख और गले की श्लेष्मिक कला में आ जाते हैं और श्लेष्मिक धब्बे गालों और होठों के भीतरी सतह पर (चित्र १८), जिह्वा (चित्र १९), मुख-गह्वर और तालुमूल ग्रन्थियों में प्रकट होते हैं। ये श्लेष्मिक धब्बे उसी तरह के होते हैं जैसे त्वचा में समतल उपदंशित अंकुरिकायें होती हैं। ये थोड़े उठे रहते हैं, और लाल तारा वलय की पट्टी से घिरे होते हैं। ये प्रायः शूलरहित होते हैं किन्तु मुख के कोने वालों में शूल भी हो सकता है और भग्न तथा द्वितीयक संक्रमण की भी आशंका रहती है। मृदु-तालु के श्लेष्मिक धब्बे 'मन्थर पन्थ' जैसे लगते हैं। वे प्रायः त्वचा की समतल उपदंशित अंकुरिकाओं के प्रकट होने के समय निकलते हैं और इनके साथ पाटलिकाउद्भेद भी हो सकते हैं। द्वितीयक अवस्था में साधारणतया मुख-गह्वर, मृदुतालु और शुण्डिका की स्पष्ट अतिरक्तिमा और संकुलता हो जाती है।

यह संकुलता कठोर तालु में नहीं घुस पाती इसलिये मृदुतालु की लालिमा और स्वस्थ कठोर तालु के बीच एक स्पष्ट रेखा मिलती है, जो इसकी विशेषता है। यह रक्ताधिक्य अपेक्षारण द्वारा उपरिष्ठक्षत उत्पन्न कर सकता है।

२. बहिर्भंग और गुदा—जैसे श्लेष्मिक धब्बे मुख में निकलते हैं वैसे ही धब्बे बहिर्भंग और गुदा में भी हो सकते हैं। स्त्रियों में चौड़े गण्डार्बुद जो कि और कुछ नहीं, बल्कि वातावरण के कारण परिवर्तित समतल शिखरीय अंकुरिकायें ही हैं, ये कड़े, आर्द्र, उजले भूरे रंग के चमकीले पुञ्ज हैं।

३. केश—पहली त्वचीय अभिव्यक्ति के शीघ्र बाद ही प्रायः रोम-हानि होने लगती है, जो पुरुषों से अधिक स्त्रियों में होती है, और कभी-कभी लोगों को बहुत दुखित बना देती है। बाल गिरने से पहले बालों की द्युति चली जाती है और वे तार के समान अकड़ जाते हैं। कभी कभी सभी बाल केवल पतले हो जाते हैं या फिर जहाँ तहाँ से गिरने लगते हैं। समूचा गन्जापन बहुत कम ही होता है, किन्तु कभी-कभी मिलता जरूर है।

२. **सार्वांगिक लक्षण**—सार्वांगिक लक्षण उद्भेद प्रकट होने के ठीक

पहले और होते समय मिलते हैं। ये लक्षरण किसी भी ज्वर के लिए सामान्य हैं। इनमें :—

(अ) अरति, किसी काम में मन नहीं लगता, जल्दी थकावट महसूस होने लगती है, शक्ति का ह्रास और भूख घट जाती है।

(ब) ज्वर—यह लक्षरण सदैव नहीं मिलता। ज्वर प्रायः $१००^{०}$ से अधिक नहीं होता। कभी-कभी दाने निकलने के पहले $१०२^{०}$ हो भी सकता है पर दाना निकलते ही फिर कम हो जाता है।

(स) रक्ताल्पता—रक्ताल्पता द्वितीयक प्रकार की और मन्द होती है और दाने निकलने के समय प्रायः नहीं होती।

३. स्थानीय लक्षरण (कभी-कभी)—

१ स्नायु मण्डल—अधिकांश रोगियों में कोई लक्षरण नहीं मिलता, फिर भी सिर दर्द अधिकतर होता है। प्रायः सिर दर्द रात्रि में, कनपटियों में प्रस्पन्दन और पश्चात् तथा ग्रीवापृष्ठ में मीठे-मीठे दर्द के रूप में होता है। यह या तो केवल रात्रि में हो सकता है, या दिनभर रहने पर रात्रि में बढ़ सकता है। सिर दर्द, प्रायः मन्द मस्तिष्कावरण प्रदाह जो इस काल में विरले ही उग्र हो पाती है, के कारण होता है।

२ वृक्क प्रदाह—थोड़ा वृक्कप्रदाह दाने निकलने के ठीक पहले होता है। कांचाभ तथा करिणकीय निर्शक के साथ थोड़ी शुक्लिमूत्रता भी केवल इसका लक्षरण हो सकता है जो उपदंश की चिकित्सा से शीघ्र ही गायब हो जाता है। यदि शुक्लिमूत्रता उपदंश के कारण होगी, तब उपदंश की चिकित्सा से चली जायेगी किन्तु यदि यह सहवर्ती दीर्घ वृक्क प्रदाह इत्यादि के कारण हुई तो उपदंश की चिकित्सा में अधिक सतर्क रहना होगा।

३ अस्थि संधियाँ—साधारण संधिशूल ही केवल ऐसा लक्षरण है जो यदि हुआ तो उपदंश में हो भी सकता है। यह दाने निकलने के पहले भी हो सकता है जिसमें कई सन्धियाँ प्रायः जानु, गुल्फ, मरिणबन्ध, कुहनी और स्कन्ध की सन्धियाँ प्रभावित होती हैं। गति से शूल में वृद्धि होती है।

संधिरसीय प्रदाह—अधिकतर शूलरहित दीर्घकालिक संधिरसीय प्रदाह बिना किसी प्रदाह के चिन्ह के किन्तु उद्रेचन के साथ होता है। जानु संधि अधिकांशतः ग्रसित होती है। कभी-कभी अनुउग्र आमवातीय संधिरसीय प्रदाह भी हो सकता है जिसके साथ तीव्र उद्रेचन और शूल होता है।

४ आखें—उपतारा प्रदाह और रंग्याग्रलोप।

इस तरह के दोष कभी-कभी द्वितीयक काल में हो सकते हैं किन्तु अधिकांशतः इस तरह की जटिलतायें रतिज व्रण के छः महीने बाद होती हैं। इसके लक्षण अन्य कारणों से उत्पन्न उपतारा प्रदाह के लक्षणों से भिन्न नहीं होते यथा—भाभीरुता, चक्षुशूल, अस्रु स्राव, और ग्रसित चक्षु में दृष्टि हानि। उपतारा परिकनीनिका रक्त निक्षेप के कटिबन्ध से घिरी होती है। उपतारा की चमक कम हो जाती है और वह संकुचित तारा के साथ पंकिल हो जाती है। यह जटिलता उपदंशीय चक्षु विकारों में सबसे अधिक होती है। अभिश्लेषणों के उत्पन्न होने की भी अधिक सम्भावना रहती है अतः धत्तरिन (एट्रोपिन) द्वारा तारा को विस्फारित रखना आवश्यक है।

दृष्टि स्नायु प्रदाह—द्वितीयक अवस्था में दृष्टिस्नायुप्रदाह बहुत कम होता है और यदि होता है भी, तो चिकित्साद्वारा शीघ्र ही दूर हो जाता है।

कृष्ण पट-मूर्ति पट प्रदाह—प्रायः उपदंश के कारण ही होता है और प्रारम्भ में एक पार्श्वीय रहता है। यह बहुत ही दीर्घकालिक रोग है जो प्रायः पुनरावृत्ति करता है, लगभग सदैव द्विपार्श्वीय हो जाता है और अधिकांशतः अन्ततोगत्वा दृष्टि स्नायु क्षय और अन्धापन पैदा करता है।

उपदंश की द्वितीयक अवस्था का निदान

कभी-कभी प्राथमिक अवस्था की अपूर्ण चिकित्सा या चिकित्सा के नितान्त अभाव में त्वचा तथा शरीर के अन्य अंगों पर कुन्तलाणुओं का प्रभाव किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता है जिसका निदान निम्नलिखित लक्षणों से किया जाता है :—

१—किसी रोगी के साथ सम्भोग की घटना का विस्तृत वितरण।

२—प्राथमिक व्रण का जननेन्द्रिय पर प्रकट होना।

३—प्राथमिक अवस्था का निदान किया गया है या नहीं। यदि प्राथमिक दशा उत्पन्न हुई हो तो उसकी चिकित्सा पेनसिलिन जैसी औषधि के द्वारा हुई है या नहीं। यह भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि कितनी और कैसे औषधि दी गयी है।

४—त्वचा पर भाँति-भाँति के दानों का निकलना जो प्रायः कष्ट हीन होते हैं।

५—कुन्तलाणुओं का डार्क ग्राउण्ड विधि (तिमिर भूमि) द्वारा प्रदर्शन-यह परीक्षण त्वचा पर दानों में से निकले हुए रक्ताम्बु से या लस ग्रन्थियों के रक्ताम्बु से किया जा सकता है। इसकी विशेषतायें पहले ही दी जा चुकी है (पृष्ठ सं० १)

६—रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०)—यह परीक्षण प्रायः प्रबल रूप से धनात्कक होता है।

चिकित्सा

यदि द्वितीयक अवस्था का निदान हो जाय तो यह एक ऐसी दशा है जो अति संक्रमणशील होती है। यदि इसके विषय में रोगी को पूर्णतया न बताया जाय तो वह दूसरे व्यक्तियों को भी प्रभावित कर सकता है। रोगी की चिकित्सा पैनसिलिन औषधि के द्वारा करना आवश्यक है जिससे कि इस रोग के विस्तार की रोकथाम की जा सके तथा रोगी को आगामी सम्भावित जटिलताओं से बचाया जा सके।

विशिष्ट चिकित्सा

द्वितीयक अवस्था की चिकित्सा विशिष्ट औषधि पैनसिलिन द्वारा ही करते हैं और इसकी चिकित्सा प्राथमिक अवस्था के समान है जिसका उल्लेख पहले ही पृ० सं० १० पर किया जा चुका है।

प्रायः विशिष्ट औषधि पैनिसिलिन से रोगी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता किन्तु कभी-कभी इस औषधि की प्रतिक्रिया हो जाती है और एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया को 'जेरिस हर्स हाइमर' प्रतिक्रिया कहते हैं जो प्रायः प्रथम सूच्यानिक्षेप से हो जाती है और इसको निम्नलिखित लक्षणों तथा चिन्हों से पहचाना जा सकता है।

(क) ज्वर का तीव्र गति से प्रारम्भ होना। प्रायः तापक्रम १०१^{0} तक या कभी-कभी इससे भी अधिक हो सकता है।

(ख) इसके साथ साथ रोगी सरदर्द, कमजोरी काम न करने की इच्छा, पसीने का आना तथा शरीर का लाल हो जाना इत्यादि का अनुभव करता है। प्रायः रोगी इस प्रकार की प्रतिक्रिया के साथ साथ चिकित्सक के पास नजला जुकाम का सा रूप लेकर आता है।

(ग) साथ ही साथ प्राथमिक व्रण में शोथ या त्वचा के दानों का उग्र हो जाना या द्वितीयक अवस्था का पहली बार शरीर पर प्रकट होना।

(घ) साधारणतया यह प्रतिक्रिया मन्दगति से ही आती है पर कभी कभी यह प्रबल रूप भी धारण कर सकती है जैसे कारोनरी (अनुवेल्लित धमनी) दौरा इत्यादि।

हमारे अनुभव में यह प्रतिक्रिया भारतीय रोगियों में बहुत ही कम होती है और प्रकट भी होती है तो अत्यन्त मन्द गति से।

इस प्रतिक्रिया के विषय में अभी तक बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त हो सका है किन्तु यह विश्वास किया जाता है कि यह प्रतिक्रिया कुन्तलाणुओं के शीघ्र गति से नष्ट होने पर रक्त में विषि के आ जाने से होती है।

कई विशेषज्ञ विशिष्ट औषधि पैनसिलिन के साथ साथ कार्टिको स्टिरायड का प्रयोग भी करते हैं जिसकी मात्रा ५–१५ मि० ग्रा० प्रति सूच्यानिक्षेप है। हमारे अनुभव में यदि विशिष्ट औषधि के साथ साथ ऐण्टी हिस्टामिनिक (फिनार्गन) प्रयोग किया जाय तो इस प्रतिक्रिया की रोकथाम की जा सकती है। इसकी मात्रा ७५ मि० ग्राम प्रतिदिन चिकित्सा के पहले ४-५ दिनों में लाभदायक सिद्ध हुई है।

इस प्रतिक्रिया के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की प्रतिक्रियायें तथा विषाक्ततायें प्रकट हो सकती है जैसे—एनाफाइलैक्टिक शाक आदि ।

—·—·—

उपदंश (सिफिलस) की द्वितीयक अवस्था का विभेदिक निदान

इसको सरलता के लिये दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (अ) त्वचा प्रविकार, (आ) श्लेष्मिक कला प्रविकार ।

(अ) त्वचा प्रविकार

उपदंश की द्वितीयक अवस्था के त्वचा प्रविकारों को निम्न अन्य रोगों से विभेद करना चाहिये । पाठकों की सुगमता के लिये इसका वर्गीकरण त्वचा के प्रविकारों के अनुसार किया जा सकता है जैसा कि:—

(१) अतिरक्तिमा या चर्म कलंक—यह उपदंश के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी हो सकता है ।

(क) मीजिल्स
(ख) जर्मन मीजिल्स
(ग) औषधि विस्फोट
(घ) टीनिया वेसिकुलर (चित्र २०) इत्यादि

(२) अंकुरिका उद्भेद—यह उपदंश के अतिरिक्त अन्य कारणों, जैसा कि

(क) औषधि विस्फोट
(ख) पिटरियासिस रोज़िया
(ग) पित्ती (अर्टीकेरिया)
(घ) लाइकन प्लैनिस (चित्र २१) इत्यादि

(३) पर्पटीकरण अंकुरिका—यह उपदंश के अतिरिक्त अन्य कारणों जैसा कि

(क) सोरियासिस
(ख) सिबौरिक त्वचा प्रदाह (चित्र २२) इत्यादि

(४) सपूयस्फोटिका उपदंशीय प्रविकार—यह अन्य कारणों से भी हो सकते हैं और इनकी अपनी ही विशेषतायें होती हैं ।

(क) ऐकनी वलगेरिस

(ख) त्वक्पूयता

(ग) चेचक

(५) वर्त्तुलाकार उपदंशीय प्रविकार—इनको निम्न रोगों से विभेद करना आवश्यक है

(क) टीनिया सर्सिनेटा (चित्र २३)

(ख) पटीरियासिस रोज़िया

(ग) वर्त्तुलाकार लाइकन प्लैनिस (चित्र २१)

(घ) इम्पेटीगो इत्यादि

(६) कान्डीलोमेटा लाटा—इसको रतिज वार्ट से करना चाहिये ।

(७) उपदंशीय (सिफलिस) खल्वाटता—इस सिफलिसी प्रविकार को निम्न रोगों से विभेद करना चाहिये

(क) स्थानीय खल्वाटता (चित्र २४)

(ख) टीनिया सर्सिनेटा

(आ) श्लेष्मिक कला प्रविकार

श्लेष्मिक कला के उपदंशीय प्रविकारों को निम्न अन्य रोगों से विभेद करना जरूरी है :—

(क) विन्सेंट ऐनजाइना

(ख) गलदाह

(ग) डिफथीरिया

(घ) बेसेट संलक्षण

(त) पेम्फीगस

(थ) लाइकन प्लैनिस इत्यादि

—: ❀ :—

अध्याय ३

उपदंश की तृतीयक अवस्था

लक्षण तथा चिह्न

उपदंश संक्रमण से उत्पन्न दो वर्ष के वाद के विकारों को उपदंश की तृतीयक अवस्था कहते हैं। इस रोग की द्वितीयक और तृतीयक अवस्थायें दोनों कभी कभी आपस में एक दूसरे से मिली जुली होती हैं।

जबकि उद्‌भेद जैसे द्वितीयक विकार और लक्षण कुन्तलाणुओं और विषि के द्वारा रुधिर और परिकेशिकाओं में संक्षोभ के कारण हाते हैं, तो तृतीयक विकार संक्षोभ जन्य नहीं, अपितु अपकर्षणजन्य होते हैं। इसका कारण पूर्व संक्षोभावस्था, प्रफलनजन्य धमनी अन्तस्तर प्रदाह, और क्षुद्र मण्डलाकार कोशिकाओं द्वारा परिरुधिरवाहिनी संचरण आदि के परिणाम स्वरूप रुधिर सम्भरण में अवरोध है।

तृतीयक उपदंश शरीर के किसी भी तन्तु या अंग में विकार उत्पन्न कर सकता है।

तृतीयक उपदंश के कारण त्वचा के विकार प्राय: उतने ही रोगियों में मिलते हैं जितने कि स्नायु मण्डल के अतिरिक्त अन्य सभी अंगों के विकारों के रोगियों को मिला कर। इन अन्य स्थानों में अस्थियां सबसे अधिक प्रभावित होती है ; तत्पश्चात् मुख, जिह्वा, तालु, मुखगह्वर, वृषण, लिंग एव अधोत्वचा समान रूप से। नेत्र और ग्रसनी पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। पाचन संस्थान, श्वसन संस्थान, मूत्र प्रणाली, श्लेष्मिक कला और मांसपेशियां अपेक्षाकृत अप्रभावित रह जाती है, जबकि रुधिर वाहिनी प्रणाली सर्वदा ग्रसित होतो है और यही सभी विकारों और लक्षणों का कारण भी है।

तृतीयक अवस्था के प्रकट होने का कारण अपूर्ण चिकित्सा, आघात किसी

भी कारण से विशेषकर मदात्यय, यक्ष्मा एवं कुपोषण से उत्पन्न दौर्बल्य आदि है।

तृतीयक प्रविकार विशेषतया संक्रमणशील नहीं होते।

चर्म विकारों की विशेषतायें एवं प्रकार—

(अ) अंकुरिकात्मक—बाद की उपदंशित अंकुरिकायें संकेन्द्रित वृत्त बनाती हैं जिसमें बड़ी अंकुरिकायें बीच में और छोटी अंकुरिकायें परिधि की ओर वितरित होती हैं। वृत्त प्रायः १४ सें० मी० का होता है। इस तरह के वृत्त शरीर के किसी भी भाग में हो सकते हैं किन्तु अधिकांशतः पीठ और नितम्बों पर मिलते हैं।

(ब) सपूयपिडिकायें— प्रायः पूयद जीवाणुओं के द्वितीयक संक्रमण के कारण होते हैं। इनकी संभावना कम ही रहती है। इनके चार प्रकार हैं :—

१. क्षुद्र केशगर्भा—केशगर्भ से सम्बन्धित।

२. वृहत् मुसूरिकाभ—जिसमें सपूय पिडिकायें नाभिवत् होती है।

३. सपूय त्वक्शोथाभ—प्रायः केशयुक्त क्षेत्रों में, यथा करोटीत्वक्, विटप प्रदेश और पुरूषों में हनु।

४. कल्किसा—जो विशेष प्रकार के शंक्वाकार शल्क से आवरित होती है और गहरी पूय युक्त खुरण्ड बनाती है।

(स) ग्रन्थिल (परिसर्पणशील)—भूरे लाल रंग की उभरी हुई छोटी छोटी गाँठें जो तरंगों या वृत्तों में वितरित होती है। ये छोटी छोटी गांठे अलग अलग या एक दूसरे से मिल कर किनारों पर फैलती हुई उन्ननांश (मेंड़) बनाती हैं। त्वचा की समूची गहराई इससे प्रभावित हो सकती है और १४ से० मी० तक व्यास की भी सीमाबद्ध संचरित पुंज बन जाते हैं। इसका आकार जीर्ण त्वक् यक्ष्मा से भी शीघ्रतर बढ़ता है। रंगायण और किणीकरण भी प्रायः इसके परिणाम होते हैं।

वास्तविक विलम्बित तृतीयक चर्म विकार तो त्वक् गोंदाबुर्द के रूप में टांगों में (८५ प्रतिशत) मिलते हैं जो कि ग्रन्थिल प्रकार के ही विकसित

स्वरूप हैं इनका परिमाण मटर से लेकर अखरोट के बराबर हो सकता है। प्रारम्भ में कठोर होते हैं किन्तु बाद में टूट कर स्रोतसीय क्षत बनाते हैं जिसकी दीवारें तेज कटी हुई लम्बवत् होती हैं। किनारे पतले और अन्दर की ओर होते हैं। तल पीले भूरे निर्मोक से ढका होता है और आकृति अण्डाकार होती है। क्षत चारों ओर से धूमिल लाल प्रदाह के तारावलय से घिरा रहता है। सबसे अधिक अनुकूल स्थान पिंडली है, जबकि कुटिलशिराक्षत प्रायः कूट, गुल्फ आदि में होता है।

अस्थियां

१—परिअस्थि आवरण-अस्थिप्रदाह—

(अ) सीमाबद्ध—यह परिअस्थि आवरण प्रदाह से प्रारम्भ होता है और बाद में अस्थिप्रदाह का रूप धारण कर लेता है। अधिकतर बहिर्जंघास्थि, अक्षकास्थि, उरःफलम और करोटि आदि ग्रसित होती है।

(ब) विसृत—प्रायः जन्मजात उपदंश में होता है।

२—उपदंशीय सव्रणअस्थिशोथ—

सामान्यतः ललाटास्थि और पार्श्व-कपालास्थि का होता है

परिअस्थि आवरण प्रदाह में रदनशूल होता है जो रात्रि में और कष्टकर हो जाता है तथा स्पर्शासह्यता एवं स्थानीय शोथ भी होता है। उपदंशीय परिअस्थिआवरण प्रदाह की उत्पत्ति में आघात भी मुख्य कारण होता है।

३ अस्थि गोंदाबुर्द—

गोंदाबुर्द में किलारीभवन अस्थि का विनाश करता है और भंगुरता ला देता है। कभी कभी गोंदाबुर्द नासास्थियों में होता है।

मुख गुहा (क) जिह्वा

१ श्वेत शल्कोत्कर्ष—यह दशा दीर्घकालिक धूम्रपान के कारण संक्षोभ से उत्पन्न होती है। यद्यपि उपदंश में यह प्रायः मिलती है किन्तु इसका कोई

विशेष नैदानिक मूल्य नही है। श्लेष्मिक कला भूरे रंग की हो जाती है और कहीं कहीं मोटी होने के साथ साथ उसमें कुछ अपक्षारण और विदरें पड़ जाती हैं।

२. दीर्घकालिक जिह्वा प्रदाह—(अ) उपरिष्ठ

(ब) अन्तरालीय—जिह्वा जरठ, खण्डिकामय एवं विदरान्वित हो जाती है तथा श्लेष्मिक कला कहीं कहीं गाढ़े लाल रंग की और कहीं कहीं हलकी रंग की तथा निरंकुरित हो जाती है। प्रारम्भ में जिह्वा सामान्य आकार से बढ़ जाती है पर बाद में सिकुड़ जाती है।

(ख) तालु—

१. मृदुतालु और कठोर तालु के गोंदार्बुद भी अधिकतर तृतीयक अवस्था में होते हैं जो अन्त में तालु को निछिद्रित करते हैं।

२ विस्तृत गोंदार्बुदीय संचरण भी मृदु तालु का होता है जिससे मृदु तालु स्थिरीकृत, जरठ और धुन्ध लाल हो जाता है। बाद में वृहद क्षत निछिद्रण, तन्तुहानि एवं कुरूपता आ जाती है।

(ग) तालुमूल ग्रन्थियाँ—गोंदार्बुदीय क्षत प्रायः एक ही तालुमूल ग्रन्थि में होता है।

जननेन्द्रियाँ—(अ) पुरुष

वृषण १—अन्तरालीय वृषण प्रदाह—जो कि इस अंग के संयोजक तन्तुओं का दीर्घकालिक तत्वोत्कर्ष है। पहले यह ग्रन्थि समान रूप से आकार में वृद्धि करती है फिर कुछ महीनों के बाद यह घटने लगती है और अपनी सामान्य आकृति से भी छोटी हो जाती है। यह आकार वृद्धि शूलरहित होती है और सामान्यतः अधिवृषणिका अप्रभावित रहती है। अण्डकोश की त्वचा भी सामान्य रहती है और ग्रन्थि से चिपकती नहीं। वृषण की संवेदना क्षीण या नष्ट हो जाती है। और यह निष्क्रिय हो जाती है।

२ गोंदार्बुद—प्रायः अनेक होते हैं और अंग में ग्रन्थिल उत्सेध उत्पन्न करते हैं। अण्डकोश की त्वचा प्रायः ग्रसित नहीं होती और पूयण तथा क्षतनलिकायें बिरले ही उत्पन्न होती है। एक के बाद दूसरा करके प्रायः दोनों वृषण

ग्रसित हो जाते हैं। शूल या स्पर्शासह्यता नहीं होती किन्तु कभी-कभी थोड़ी बायुरोधी वेदना हो सकती है। नाल इस राग में रोगमुक्त होता है।

उपदंश के साथ दीर्घकालिक जलातिमुष्क भी हो सकती है। यह लोष्ठ अभिताढ़न में मन्द ध्वनि उत्पन्न करता है, चिकना, शूल रहित, प्रत्यस्थ एवं पारभासी होता है और शनैः शनैः बढ़ता ही जाता है।

शिश्न—शिश्न के गोंदार्बुद से प्रायः रतिज व्रण का भ्रम हो जाता है और गोंदार्बुद भी कभी-कभी पुराने रतिज व्रण के स्थान पर ही होता है। गोंदार्बुदीय क्षत तेज कटी दीवरों और विगलित आधार के कारण प्राथमिक रतिजव्रण से सर्वदा भिन्न लगता है। यहाँ तक कि रतिजव्रणा में जो शूलरहित लस ग्रन्थि प्रदाह होता है वह भी गोंदार्बुद में अनुपस्थित ही रहता है।

यदाकदा शिश्न का विसृत गोंदार्बुदीय संचरण, विशेषकर अण्डाकार शिश्न पार्श्विका-पेशियों से होता है, इसके परिणाम स्वरूप विकलांगता और एक प्रकार का कष्ट कर शिश्न प्रहर्ष उत्पन्न हो जाता है।

(ब) स्त्री--

१. बहिर्भग—गोदार्बुद या गोदार्बुदीय संचरण जो क्षत में परिणत हो जाते हैं, शिश्न से कहीं अधिक बहिर्भग में होते हैं, विशेषकर वृहद्भगोष्ठ या क्षुद्रभगोष्ठ में। प्रदाह एवं पीड़ा के साथ द्वितीयक संक्रमण इनमें हो जाता है। इसके लिये कपड़े, मूत्र एवं योनि विसर्जन द्वारा घर्षण, संक्षोभ एवं संदूषण उत्तरदायी है।

२. योनि मार्ग—कभी-कभी मलांत्र-योनि-पट के गोंदार्बुद के टूटने से मलांत्र-योनि नाड़ीव्रण उत्पन्न हो जाता है।

३ गर्भाशय—गर्भाशयान्तः कला एवं गर्भाशय काया दोनों के गोंदार्बुद और गोंदार्बुदीय संचरण सिद्धान्ततः सम्भव है अतः यदि गर्भाशय से दीर्घकालिक रुधिर पूय युक्त विसर्जन हो रहा हो तो उपदंश की भी सम्भावना को नहीं भूलना चाहिये।

४. डिम्ब प्रणाली एवं डिम्बाशय—ऐमा कोई कारण नहीं है जिससे कि कभी-कभी इन अंगों में भी सीमाबद्ध गोंदार्बुद या विसृत गोंदार्बुदीय संचरण न हो। फिर भी उपदंशित डिम्बाशय का निदान बहुत ही कम किया जाता है, जबकि उपदंशित वृष्ण बहुलता में मिलते हैं। वृषण की तरह डिम्बाशय भी यदि स्पर्शण योग्य हांते तो उपदंशित डिम्बाशय का निदान और अधिक हुआ करता।

५ स्तन—स्तन के सोमाबद्ध गोंदर्बुंद बिरले ही मिलते हैं जो चिकित्सा के अभाब में टूट कर क्षत उत्पन्न करते हैं। कांख की लस ग्रन्थियाँ सामान्य रहती हैं। यह स्थिति शूल रहित होती हैं।

धमनियां—

यद्यपि सूक्ष्मदर्शी द्वारा राहिणिकाओं एवं क्षुद्र धमनियों के अन्तस्तर प्रदाह उपदंश संक्रकण की सभी अवस्थाओं में प्रदर्शित किये जा सकते हैं। किन्तु धमनी प्रदाह के लक्षण अत्यधिक विलम्ब से प्रकट होते हैं।

दीर्घकालिक धमनी प्रदाह एवं प्रफलनशील अवरोधी धमनी अन्तस्तर प्रदाह के परिणामस्वरूप धमन्याभिस्तीर्णता, भित्तिव्रण, मूल धमनीय उद्गीर्णन' वक्षीय कष्ठ (हृद्शूल) अपस्मार आक्षेप, कमस्तिष्कीय सन्यास या अन्तः शल्यता या कर्दम हो सकते हैं। मूल धमनी धमन्याभिस्तीर्णता का कारण तो उपदंश ही है। अल्पमात्रा में हृदय-विस्फारण और आरोहीमूल धमनी के न्यून विस्फारण तो सरलता से ध्यानच्युत हो सकते हैं। किसी भी उपदंश के पुराने रोगी में यदि वक्ष-वेदना या व्यायामोपरान्त दुःश्वसन के कुछ भी लक्षण मिले तो उनके वक्ष का क्षरश्मि चित्र अवश्य लेना चाहिए।

रोगी के रक्तचाप का निरन्तर अध्ययन भी आवश्यक है क्योंकि उच्च रक्तचाप से धमनियों एवं रोहिणिकाओं के उपदंशीय अपकर्ष का आंदेशा हो जाता है।

अस्थि-संधियाँ—

(अ) दीर्घकालीय संधिरसीय शोथ अधिकतर जन्मजात उपदंश की विलम्बित अभिव्यक्तियों में सामान्यतः होता है। उपदंश की द्वितीयक या तृतीयक अवस्थाओं में भी कभी-कभी हो सकता है। इसमें जानु आदि संधियों में द्विपार्श्वीय शूलरहित, प्रदाह हीन उद्रेचन होता है।

(ब) गोदार्बुदीय संधि प्रदाह—परिसंधिकला तन्तुओं में स्थूलता आ जाती है और उनमें सीमाबद्ध गोंदार्बुद होते हैं। प्रायः जानु संधि में एक पार्श्वीय अल्प उद्रेचन भी होता है।

(स) शेकाट संधि—इस दशा के मूल में कोई आघात या निरन्तर अतिव्यवहार होता है, और इसका कारण सुषुम्ना के अपकर्ष के फलस्वरूप उस अंग का कुपोषण है। इसके साथ क्षय रोग भी होता है किन्तु क्षय रोग के लक्षण बाद में भी प्रकट हो सकते है। जानु, कुहनी और गुल्फ की संधियां अधिकतर ग्रसित होती हैं।

उद्रेचन शनैः शनैः समाप्त होने लगता है किन्तु इसकी पुनरावृत्ति होती है और प्रत्येक पुनरावृत्ति में संधि उत्तरोत्तर विकृत होती जाती है, अन्ततोगत्वा संधि पूर्ण रूपेण विघटित अनुपयुक्त एवं शलकल जैसी हो जाती है। यह प्रदाह हीन लोष्ठ अंशतः उद्रेचन एवं अंशतः अस्थि अस्थ्यातों के विस्तार के कारण होता है। कण्डरायें अपक्षारित हो जाती है और प्रायः नवीन अस्थि पुंजों का निर्माण होता है। जिससे धर्षण ध्वनि, अतिचालिष्णुता तथा सम्भवतः बन्दीकरण भी हो सकता है।

अधोत्वचा—सीमाबद्ध ग्रन्थिल गोंदार्बुद स्वस्थ एवं मुक्त चर्म के भीतर बनते है। प्रायः त्वचा लाल, और अभिश्लेषित हो जाती है, और अन्त में गोंदार्बुद टूट कर क्षत उत्पन्न करते है। नितम्बों, जांघों, और पिंडलियों में अधिक होते हैं।

स्वर यन्त्र—स्वर यन्त्र में गोंदार्बुदीय संचरण या स्थानीय गोंदार्बुदीय क्षत, विस्तृत अंकुरार्बुदीय वृद्धि, किणजन्य विरुपता इत्यादि हो सकता है।

शूल यदि होता है भी है तो बहुत कम, किन्तु ध्वनि में रूक्षता या ध्वनि का लोप हो जाता है। खांसी और दुःश्वसन से व्यक्ति पीड़ित रहता है और शोथ या धातुनष्ट तन्तुओं की स्तब्धता के फलस्वरूप श्वासावरोध उत्पन्न हो जाता है।

आँख—चक्षुपेशियाँ एवं उपतारा की गतियों को प्रभावित करने वाले स्नायु-विकारों के अतिरिक्त आँख और इसके अनुसंगों के तृतीयक विकार बिरले ही होते हैं। आँख के सभी भागों में सीमाबद्ध या विस्तृत गोंदार्बुद सम्भव हैं किन्तु शुक्ला एवं उपतारा इनमें सबसे अधिक अनुकूल है।

प्लीहा—अति आकारवृद्धि से युक्त उपदंशीय जीवितकप्लीहाप्रदाह वर्णित तो है किन्तु वयस्कों में दुर्लभ है।

लस ग्रन्थियाँ—कतिपय रोगियों में सार्वांगिक लसग्रन्थियों की अल्पमात्रा में आकार वृद्धि होती है।

तृतीयक उपदंश की चिकित्सा

इसकी चिकित्सा उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार कि रुधिर परिवहन एवं स्नायविक उपदंश की, की जाती है। इनका विवरण आगे दिया जायेगा।

उपदंश (सिफिलस) की तृतीयक अवस्था के त्वचा प्रविकारों का विभेद निदान

इन प्रविकारों को निम्न अन्य रोगों से विभेद करना अनिवार्य है। इनको सरलता के लिये दो भागों में विभाजित कर सकते हैं और इन अवस्थाओं का निदान इनकी अपनी लक्षणगत विशेषताओं पर निर्भर करता है :—

१—कणिकागुल्मीय प्रविकार

२—अकणिकागुल्मीय प्रविकार

१. कणिकागुल्मीय प्रविकार

(क) यक्ष्मा [चित्र २६, २७]

(ख) कुष्ठ [चित्र २८]

(ग) स्पोरोट्राइकोसिस
(घ) ब्लास्टोमाइसीजता

२. अकणिकागुल्मीय प्रविकार

(क) सोरियासिस
(ख) सबोरिक त्वचा प्रदाह
(ग) दुर्दम उपकलार्बुद इत्यादि

अध्याय ४

उत्तर उपदंश

गुप्त उपदंश

यह एक ऐसी अवस्था है जो प्रायः कुन्तलाणुओं के संक्रमण के दो वर्ष के पश्चात् प्रारम्भ होती है और यह अवस्था संकेत तथा लक्षणों से वंचित रहती है। यह दो वर्ष के पश्चात् कुछ वर्षों तक या कभी कभी समूचे जीवनपर्यन्त रोगी में बनी रह सकती है। कई बार इस अवस्था का ज्ञान तभी होता है जब कि कभी गर्भवती स्त्री किसी जन्मजात उपदंश से ग्रसित शिशु को जन्म देती है या जब किसी व्यक्ति का अन्य रोगों की जाँच करते समय रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०) किया जाय, जैसे रक्तदान के समय किया गया रक्त परीक्षण इत्यादि। कभी-कभी इस अवस्था का ज्ञान विवाह से पूर्व किये गये रक्त परीक्षण द्वारा भी हो सकता है। उस प्रकार की जाँच करने की प्रथा कई विकसित देशों में प्रचलित है किन्तु हमारे देश में इस प्रकार की व्यवस्था अभी तक लोगों को नहीं उपलब्ध हो सकी है।

निदान—

१—इस अवस्था का निदान रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०) द्वारा किया जाता है।

२—यदि उपदंश के अवशेष चिह्न उपस्थित हों तो ये भी इस अवस्था के निदान में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

३—जन्मजात उपदंश से ग्रसित शिशु का जन्म।

४—इस अवस्था का आकस्मिक ज्ञान होना, जैसे रक्तदान के समय या विवाह के पूर्व रक्त परीक्षण द्वारा।

बेहोशी तथा दिल में धड़कन का उत्पन्न होना इत्यादि सामान्य हैं। रोगी कई बार विशेषज्ञ के सम्मुख सीने में मीठी-मीठी पीड़ा लेकर आता है किन्तु इस रोग का निदान केवल लाक्षणिक परीक्षण द्वारा कर पाना कठिन है। इसके लिए वक्ष का क्ष-चित्र, एवं विद्युत् हृदय लेखा चित्र किया जा सकता है।

२—यदि यह विकार उत्तरोत्तर विकसित करता जाय तो महाधमनी अभिस्तीर्ण बन जाता है और इसके लक्षण तथा चिह्न महाधमनी के ग्रसित अंश विशेष पर निर्भर करते हैं।

क) **आरोही महाधमनी अभिस्तीर्ण**—यह दशा अधिक सामान्य है और रोगी चिकित्सक के यहाँ सीने में मधुर या उग्र पीड़ा, प्रावेगिक खाँसी या आवाज में परिवर्तन के कारण आता है। लाक्षणिक निरीक्षण करने से उर:फलम् के दायें ओर एक स्पन्दन शील पिण्ड मिलता है (चित्र २९)। स्पर्शण द्वारा हृदय क्षेत्र में हृत्संकोचीय कम्पन मिलता है। आकर्णन द्वारा महाधमनी क्षेत्र में हृत्संकोचीय मर्मर ध्वनि तथा तीव्र द्वितीय हृद्ध्वनि सुनी जा सकती है।

(ख) अनुप्रस्थ महाधमनी अभिस्तीर्ण—यदि यह स्थिति रोगी में उत्पन्न हो जाय तो रोगी में प्रायः आवाज में तबदीली, खांसी, दोनों तरफ की आँखों की ताराओं में असमानता, श्वास नलिका टग, उर:फलम् के ऊपर स्पन्दन मिलते हैं। यदि यह अभिस्तीर्ण नीचे की ओर झुका हुआ हो तो इसका प्रभाव बायीं श्वसनिका पर पड़ता है और श्वसनिका प्रदाह उत्पन्न हो सकता है।

(ग) अवरोही महाधमनी अभिस्तीर्णता—इससे भी कई तरह के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। परीक्षण करने पर फेफड़ों पर कशेरुका पर तथा पसलियों पर दबाव के चिह्न तथा कभी-कभी वाम अन्तरअंसफलक क्षेत्र में स्पन्दन शील पिंड मिलता है।

उपदंशित महाधमनी अभिस्तीर्णता का निदान

निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है :—

(१) रोगी में उपदंश रोग का विवरण। उपदंश का निदान रोगी में पहले हो चुका है कि नहीं। यदि इसका निदान हुआ था तो उपदंश की उचित चिकित्सा हो पायी थी कि नहीं।

(२) रोगी की आयु तथा रोग की अवधि।

(३) लक्षण और चिह्न जो उपरिलिखित हैं।

(४) वक्ष का क्ष-किरण-चित्र तथा हृदय विद्युत लेखा चित्र (ई०सी०जी०)।

(५) रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०) यह प्रायः धनात्मक्र होता है।

चिकित्सा (रुधिर परिवहन संस्थानीय उपदंश)

यदि इस अवस्था का निदान हो जाय तो विशिष्ट चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है। विशिष्ट चिकित्सा आरम्भ करने से पहले रोगी को इस रोग के विषय में पूर्ण रूपेण परिचय दे देना आवश्यक है। यह बताना भी अनिवार्य है कि जो कुछ भी क्षति हो चुकी है उसको पूर्ववत् दशा में ले आ पाना कठिन है किन्तु विशिष्ट चिकित्सा द्वारा इस रोग का आगे विस्तार अवश्य ही रोका जा सकता है। कुछ साधारण उपाय इस रोग की रोकथाम के लिये अनिवार्य हैं जिनका रोगी को भली भाँति पालन करना चाहिये। इनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

(१) **आराम**:—आराम रोगी के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कभी-कभी जब रोगी अधिक परिश्रम करता है तब ये रोग अचानक बढ़ जाया करते हैं।

(२) **व्यवसाय में परिवर्तन**:—यदि कोई रोगी परिश्रम वाले कार्य करता है तो उसे अपना व्यवसाय छोड़कर कोई कम परिश्रम वाला व्यवसाय अपना लेना चाहिये।

(३) अनुवेल्लित धमनी जन्य हृदय रोग:—यदि रोगी में इस रोग के संकेत मिलते हों तो रोगी को सीढ़ियों पर या किसी ऊँचाई पर चढ़ना, सम्भोग

करना तथा कामोत्तेजना इत्यादि से वर्जित एवं वंचित रहना चाहिये। इनका निषेध अनिवार्य है।

विशिष्ट चिकित्सा—

पेनिसिलिन ही इस रोग की विशिष्ट चिकित्सा है और इसकी मात्रा साधारणतया १२० से १५० लाख यूनिट, बीस समान भागों में होती है। पाम (पी० ए० एम०) या प्रोकेन पेनिसिलिन को साधारणतया अंतः मासपेशीय सूच्या निक्षेप द्वारा दिया जाता है। कभी-कभी इसी मात्रा में लम्बे समय तक कार्य करने वाली बेन्ज़ाथीन पेनिसिलिन का प्रयोग करते हैं। इसकी मात्रा ३० लाख यूनिट प्रत्येक सप्ताह देते हैं जब तक कुल १२० लाख यूनिट पूरी नहीं हो जाती हैं।

कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि रुधिर परिवहन उपदंश के रोगियों को पेनिसिलिन द्वारा विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व अविलयनशील ०·२ से ०·३ ग्राम बिस्मथ द्वारा तैयार करना चाहिये, ताकि पेनिसिलिन से होने वाली प्रतिक्रियाओं को रोका जा सके। इस बिस्मथ को सूच्या निक्षेप द्वारा प्रति सप्ताह एक सूच्यानिक्षेप की दर से ४ सप्ताह तक दिया जाता है। 'जेरिश हार्स हाइमर' प्रतिक्रिया रुधिर परिवहन उपदंश की चिकित्सा में विरले ही होती है और यदि होती भी है तो केवल अनुवेल्लित धमनी जन्य हृदय रोग में।

यदि रुधिरपरिवहन उपदंश की जटिलतायें उत्पन्न हो जाय (जैसे—संकुलन हार्दिक असफलता) तो उनकी उचित चिकित्सा भी करनी चाहिये। यदि महाधमनी अभिस्तीर्ण के लक्षण और चिह्न मिलें तो शल्य चिकित्सा द्वारा क्षतिपूर्ति का प्रयास करना चाहिये।

अनुनिरीक्षण—अनुनिरीक्षण भी उतना ही आवश्यक है जितनी कि चिकित्सा। इसका अनुनिरीक्षण उसी प्रकार करते हैं जैसा कि प्रारम्भिक उपदंश में।

———

अध्याय ५

स्नायु मण्डलीय उपदंश

कुन्तलाणु (स्पाइरोकीटा पैलिडा) का जिस समय सार्वांगिक संक्रमण हो जाता है तो उस समय यह स्नायु मण्डल को भी प्रभावित कर सकता है। संक्रमण के प्रायः १० से २० वर्षों के पश्चात् स्नायविक लक्षण तथा चिन्ह प्रकट होते हैं।

स्नायु मण्डलीय उपदंश का वर्गीकरण—ये निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं :—

१—लक्षण हीन—कभी-कभी स्नायु मण्डल में कुन्तलाणुओं के संक्रमण के उपरान्त भी स्नायविक लक्षण तथा चिन्ह उत्पन्न नहीं हो पाते हैं, न ही इसके लक्षण शरीर के अन्य भागों में प्रकट हो पाते हैं। इस दशा को लक्षणहीन स्नायु मण्डलीय उपदंश की संज्ञा दी जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह अवस्था स्नायु मण्डलीय उपदंश के रोगियों की २० प्रतिशत होती है। इसका निदान केवल मेरू द्रव (सी० एस० एफ०) परीक्षण द्वारा ही किया जा सकता है।

२—मस्तिष्कावरणीय—यह दो प्रकार का हो सकता है :—

(क) उग्र दशा :—यदि मस्तिष्कावरण कुन्तलाणुओं से ग्रसित हो जाता है तो विभिन्न प्रकार के मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण एवं चिन्ह प्रकट होते हैं। तीव्र सिर-दर्द, ज्वर, गर्दन में पीड़ा, अनिद्रा, सिर का चकराना, उल्टी, किसी काम में मन न लगना और चिड़चिड़ाहट इत्यादि उसके प्रमुख लक्षण हैं। निरीक्षण करने पर धनात्मक 'कर्निग" चिन्ह, तथा तीसरी, चौथीं, छठीं और सातवीं

कपाली स्नायुओं के विकार से उत्पन्न अंगघात का प्रकट होना। इसके अतिरिक्त एकांगघात, पक्षाघात, अधरांगघात, इत्यादि भी उत्पन्न हो सकते हैं।

(ख) लक्षणहीन मस्तिष्कावरण प्रदाह :—कभी-कभी यह अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है और इसका निदान मस्तिष्क मेरुद्रव परीक्षण द्वारा ही हो सकता है।

३—रुधिर वाहिनीय—कुन्तलाणु स्नायु मंडल की किसी भी रक्त वाहिनी को संक्रमित कर सकते हैं और इसके लक्षण तथा चिन्ह भी रक्त वाहिनी विशेष पर निर्भर करते हैं। विकृति विज्ञान के दृष्टिकोण से यह अवस्था दो प्रकार की हो सकती है।

(क) घनास्रता से उत्पन्न रुधिर वाहिनी अवरोध।

(ख) रुधिर वाहिनी के फट जाने के कारण आन्तरिक रक्तस्राव ;

आरम्भ में इस रोग के लक्षण मन्द होते हैं किन्तु धीरे-धीरे तीव्र होते जाते हैं। प्रायः रोगी सिर-दर्द, सिर में चक्कर, मनोविकार, आदि की शिकायत करता है और समय व्यतीत होने पर एकांगघात, पक्षाघात, अधरांगघात इत्यादि भी उत्पन्न हो सकते हैं। कभी-कभी अत्यधिक रक्तस्राव के कारण रोगी की आकस्मिक मृत्यु हो सकती है।

४—जीवितक—यह तीन प्रकार की हो सकती है :—

(क) टेबीस डार्सेलिस

(ख) टेबो पैरेसिस तथा

(ग) जनरल पैरालिसिस आफ इन्सेन (विक्षिप्त सार्वांगिक संस्तम्भ)।

इन रोगों के विषय में अधिक जानकारी काय-चिकित्सा की पाठ्य पुस्तकों से प्राप्त की जा सकती है।

५—मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के गोंदार्बुद—इसके लक्षण तथा चिन्ह गोंदार्बुद किस स्थान पर है इस पर निर्भर करते हैं। साधारणतया ये एकांगघात, पक्षाघात, अधरांगघात तथा चतुरांगघात इत्यादि रूपों में प्रकट हो सकते हैं।

निदान—१—उपदंश रोग का विवरण
२—लाक्षणिक संकेत
३—रक्त परीक्षण (एस० टी० एस०)
४—मस्तिष्क मेरु द्रव परीक्षण।

मस्तिष्क मेरु द्रव (सी० एस० एफ०) परीक्षण

यह परीक्षण इस अवस्था में अति आवश्यक है। इसमें निम्नलिखित बातों का परीक्षण करना लाभप्रद है।

(क) मस्तिष्क मेरु द्रव-चाप (म०मे०द्रव-चाप)—साधारणतया यह चाप म० मे० द्रव का ६० से १५० मि० मी० होता है।

(ख) प्रोटीन—प्राय: ये स्वस्थ पुरुष में २० से ४० मि० ग्राम प्रति १०० मि० ली० म० मे० द्रव होता है। यदि ये इस मात्रा से अधिक हो जाय तो इससे संकेत मिलता है कि कुन्तलाणुओं का प्रवेश स्नायु मंडल में हो गया है।

(ग) लस कोशिकायें—ये साधारणतया स्वस्थ व्यक्ति के म० मे० द्रव में ०–५ तक प्रति मि० ली० होती हैं। यदि ये बढ़ जायें तो इनका बढ़ जाना कुन्तलाणुओं के स्नायु मंडल में प्रवेश का संकेत करता है।

(घ) म० मे० द्रव में एस० टी० एस० परीक्षण—यदि यह धनात्मक हो तो भी स्नायु मंडल के ग्रसित होने का सन्देह होता है।

स्नायविक उपदंश की चिकित्सा

इस अवस्था का निदान हो जाने पर इसकी चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। इस रोग के विषय में भी रोगी को पूर्ण परिचय प्राप्त करा देना चाहिये और उसे स्पष्ट शब्दों में समझा देना चाहिये कि जो कुछ भी क्षति हो

चुकी है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती किन्तु रोग का आगे विस्तार अवश्यमेव रोका जा सकता है।

विशिष्ट चिकित्सा पेनिसिलिन द्वारा ही की जाती है जिसकी मात्रा १२० से १५० लाख तक २० समान भागों में होती है। पाम (पी० ए० एम०) और प्रोकेन पेनिसिलिन का इसके लिये प्रयोग किया जा सकता है। विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले बिस्मथ द्वारा रोगी को तैयार कर लेना चाहिये। इसकी पद्धति का रुधिर परिवहन उपदंश की चिकित्सा में उल्लेख किया जा चुका है।

अनुनिरीक्षण—चिकित्सा के पश्चात् रोगी का अनुनिरीक्षण भी उतना ही आवश्यक है जितनी कि चिकित्सा। इस संदर्भ में निम्नलिखित परीक्षण आवश्यक हैं।

१ लाक्षणिक परीक्षण—साधारणतया लक्षण तथा चिन्हों में चिकित्सा के पश्चात् भी कोई विशेष सुधार नहीं होता। यदि हो भी तो लाक्षणिक परीक्षण द्वारा अवशेष लक्षणों का पता चलता है। यदि लक्षणों तथा चिन्हों में वृद्धि न हो तो यह रोगी के लिये अच्छा संकेत है और इसका अर्थ है कि रोग का विस्तार नहीं हो रहा है।

२ मस्तिष्क मेरु द्रव परीक्षण—चिकित्सा समाप्त होने के छः छः सप्ताह बाद दो बार म० मे० द्रव परीक्षण करना चाहिये। यदि म० मे० द्रव की कोशिकाओं की संख्या सामान्य स्तर पर आ जाय और उस पर स्थिर रहें तो रोगी की व्यवस्था ठीक समझी जा सकती है और अतिरिक्त चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं। यदि म० मे० द्रव प्रोटीन सामान्य न हों तो भी चिकित्सक अतिरिक्त चिकित्सा करने के लिये बाध्य नहीं होता। म० मे० द्रव के एस० टी० एस० परीक्षण का धनात्मक होना भी चिकित्सा का संकेत नहीं है। यदि इनकी मात्रा बढ़नी प्रारम्भ हो जाय तो रोगी की पुनः चिकित्सा प्रारम्भ की जा सकती है। इसके साथ-साथ ही रोगी की रक्त परीक्षा (एस० टी० एस०) भी अनिवार्य है और यह प्रायः चिकित्सा के पश्चात् कम हो जाती है। यदि यह बढ़ती रहे तो म० मे० द्रव परीक्षण पुनः करना चाहिये।

अध्याय ६

जन्मजात उपदंश

शैशवकालीन उपदंश या तो जन्म जात हो सकता है या अर्जित। अर्जित संक्रमण विरले ही होता है और यह :—

१—शिशु के जन्म के समय माँ की जनेन्द्रियों में संक्रमणशील प्रविकारों के संसर्ग द्वारा हो सकता है। किन्तु उल्ब द्वारा भ्रूण की समुचित रक्षा होने के कारण संक्रमण की सम्भावना नगण्य है।

२—जन्म के बाद संक्रमित माँ द्वारा या संक्रमित आर्द्रधात्रियों, बोतलों या चम्मचों इत्यादि द्वारा अर्जित किया जा सकता है।

जन्म जात उपदंश को पूर्व गर्भाधानीय एवं गर्भाधानोपरान्तीय में विभक्त किया जा सकता है।

पूर्वगर्भाधानीय या आनुवंशिक उपदंश—१—जब गर्भाधान के समय माता-पिता दोनों उपदंश से पीड़ित हों तो इस प्रकार के पारेषण को मिश्रित कहा जाता है।

२—गर्भाधान के समय यदि माँ ही केवल उपदंश से ग्रसित हो तो इस प्रकार के पारेषण को मातृक कहा जाता है।

३—यदि गर्भाधान के समय पिता ही केवल उपदंश से संक्रमित हो तो उसे पैतृक पारेषण कहते हैं।

गर्भाधानोपरान्तीय—मातृक पारेषण—इसमें स्वस्थ गर्भिणी माँ उपदंश से संक्रमित होकर भ्रूण को भी संक्रामित कर देती है।

गर्भाधानीय संक्रमण—संक्रमित भ्रूण द्वारा स्वस्थ पिता के उपदंशीय शुक्र से उत्पन्न संक्रामित भ्रूण द्वारा माँ भी संक्रामित हो सकती है, इसे गर्भाधानीय संक्रमण कहते हैं।

भ्रूण की मृत्यु के कारण—१—गर्भावस्था के आदि काल में गर्भपात के रूप में हो सकती है जो प्रायः पूर्व गर्भाधानीय मातृक संक्रमण और तत्पश्चात् डिम्बाशीय संक्रमण के कारण होती है।

२—गर्भावस्था के उत्तरकाल में प्रकटतः स्वस्थ या मृदुभावित भ्रूण के मृतजन्म के रूप में हो सकती है।

यद्यपि कुछ विशेषज्ञ विश्वास नहीं करते, किन्तु माँ के संक्रमण के अभाव में केवल पैतृक पारेषण द्वारा भ्रूण का संक्रमण और मृत्यु की कई घटनायें पंजीकृत की गयी हैं—

(१) जहाँ निरन्तर गर्भपात या मृत्यु को पिता के उपदंश की चिकित्सा करके रोका गया है।

(२) जब कि ऐसी माताओं ने जिनके जीवन में कभी भी उपदंश के कोई लक्षण नहीं मिले, उपदंश ग्रसित शिशुओं को जन्म दिया। केवल पैतृक संक्रमण यद्यपि कभी-कभी हो जाता है पर अत्यन्त विरले ही मिलता है।

'डिडे' के घटने का नियम—इस तथ्य पर आधारित है कि समय स्वतः कुंतलाणुओं की घातकता को कम कर देता है और अन्त में उपदंशीय पारेषण भी समाप्त हो जाता है जिससे गर्भपात, मृत जन्म और उपदंशित शिशुओं का क्रम स्वस्थ शिशुओं में बदल जाता है।

उपदंशित शिशुओं के जन्मों के बीच-बीच में कभी-कभी स्वस्थ शिशुओं का जन्म हो जाता है, जिसकी व्याख्या करना कठिन है।

'प्राफेटा' के नियमानुसार माँ या शिशु की एक दूसरे द्वारा संक्रमण के विरुद्ध रोग प्रतिरोध क्षमता अधिकतर माँ या शिशु में सुप्त संक्रमण के कारण

आती है। चूँकि वे पहले से ही संक्रमित रहते हैं इसलिये उनमें संक्रमण नहीं होता।

उपदंशीय संक्रमण का प्रभाव बच्चे की विभिन्न अवस्थाओं में हो सकता है। इसका प्रारम्भ या तो :—

(१) गर्भाशय में हो सकता है जिससे कि रुग्ण या, कुनिर्मित शिशु पैदा होता है या

(२) जन्म के ६ महीने के अन्दर हो सकता और शिशु प्रकट रूप से स्वस्थ पैदा हो सकता है।

(३) उत्तर जन्मजात उपदंश के रूप में हो सकता है, जिसके लक्षण प्रायः तरुणावस्था में अभिव्यक्त होने प्रारम्भ होते हैं।

जन्मजात उपदंश के लक्षण

(१) गर्भाशयस्थ—(अ) अपरा सामान्य से अधिक भारी होता है और अपरा तथा भ्रूण का अनुपात बढ़कर १ : ६ से लेकर १ : ४ या यहाँ तक कि १ : ३ हो जाता है। अपरा असाधारण रूप से भंगुर और हल्के पीले क्षेत्रों से युक्त हल्के लाल रंग का होता है।

(ब) भ्रूण या शिशु—जन्म के समय शिशु में उपदंश के लक्षण मिलते हैं और वह नन्हा सा, दुबला पतला, श्लथ, परिम्लावित, वलिकुंचित तथा कॉफी के रंग का होता है। यकृत और प्लीहा बढ़े होते हैं। त्वचा में सबसे अधिक प्रकट होने वाले लक्षण उपदंशीय छाले जो कि तरह-तरह के होते हैं और प्रायः हाथ तथा पैर की तलियों में होते हैं और जिनके फूटने पर जखम से बन जाते हैं। सम्भवतः केवल एक तिहाई उपदंशित शिशुओं में ही जन्म के समय कोई लक्षण मिलता है।

(२) प्रकट रूप से स्वस्थ शिशु के जन्म के छः महीने के अन्दर—इसी श्रेणी में अधिकतर रोगी आते हैं। समुचित पोषण के उपरान्त भी प्रकट रूप से

सामान्य शिशु का द्रुत गति से भार घटने लगता है और शिशु रक्ताल्पता ग्रसित, दुबला पतला, क्षीण एवं बलहीन हो जाता है। अकारण अनिद्रा एवं भीरुता प्रारम्भिक लक्षण हैं जिनसे रोग की आशंका होती है। होठ नाक, स्वर यन्त्र, कान, मुख या गुदा की श्लेष्मिक कला के ग्रसित होने पर क्रमशः सरेख, नासास्राव, दक्ष रुदन, कर्णस्राव या श्लेष्मिक धब्बे या गण्डाबुर्द उत्पन्न होते हैं। होठों का ग्रसित होना इस अवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण नैदानिक लक्षण है। सर्वप्रथम त्वचा और श्लेष्मिक-कला के बीच की सीमा रेखा का लोप हो जाता है। कभी-कभी समूची होठ की त्वचा स्थान-स्थान पर संचरित, लाल और खुरदरी हो जाती है। तत्पश्चात् होंठ की श्लेष्मिक कला शुष्क, भग्न एवं विदरित होकर सरेख उत्पन्न करती है जो पूरित होने पर चिरस्थायी किणीकरण पैदा करती है। लगभग किसी भी प्रकार के वयस्क दाने हो सकते हैं, किन्तु प्रायः जांघिये के क्षेत्र जैसे नितम्ब, वेक्षण-प्रदेश, कटि तथा जांघों के भीतरी क्षेत्र में चर्मकलंक होते हैं। प्लीहा प्रायः स्थूलाकार हो जाती है।

कभी-कभी उपदंश जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह, वृक्क प्रदाह, वृषण प्रदाह, अंगुलि प्रदाह, अस्थिशीर्ष प्रदाह या परि अस्थि आवरण प्रदाह भी हो सकते हैं जो 'हाट क्रास बन' उत्पन्न करते हैं जिन्हें अस्थिशोध के 'हाट क्रास बन' से भिन्न कर पाना कठिन है।

यद्यपि नाखून अधिकतर प्रभावित होते हैं फिर भी कभी-कभी परिनख विकृति तथा कुनाव सम्भव है और भिदुर, गर्गित, अतिवर्द्धित या अवर्धित नाखूनों से उपदंश की सम्भावना को ध्यान में रखना चाहिये।

प्रायः उपतारा प्रदाह एवं कृष्णपटल प्रदाह उत्पन्न होते हैं और इनके कारण का अतिशीघ्र पता लगना अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि विशेषकर उपतारा प्रदाह द्वारा चक्षुतारा-कनीनिका-संयोजन उत्पन्न हो जाता है जिसे उपदंश की चिकित्सा तथा स्थानीय धत्तूरिन द्वारा शीघ्र दूर किया जा सकता है।

इस अवस्था में अन्तरालीय कनीनिका प्रदाह विरले ही हो सकते हैं।

करोटि के पूर्व एवं पृष्ठ भाग की तथा भौहों की रोमहानि या गंजापन भी कभी-कभी हो सकता है।

(३) उत्तर जन्मजात उपदंश—इसमें स्वस्थ शिशु का जन्म होता है और शिशु एक वर्ष तक स्वस्थ रहता है। रोग कभी-कभी तब तक सुषुप्तावस्था में रहता है जब तक कि बच्चा वयस्क नहीं बन जाता, यद्यपि यह विरले ही होता है। पन्द्रह वर्ष ही इसकी सीमा है। अधिकतर विशेषज्ञों के अनुसार बारह वर्ष की अवस्था ही संक्रान्तिक है। इसके लक्षण तृतीयक उपदंश जैसे होते हैं और ये निश्चित ही शैशवकालीन उपदंश के परिणाम हैं जिन्हें या तो पहचाना नहीं गया या उनकी अपूर्ण चिकित्सा हुई थी।

कभी-कभी केवल पिछड़ापन या क्षीण शारीरिक एवं मानसिक विकास, अन्तरालीय कनीनिका प्रदाह, विग्रथित कृष्णपटल प्रदाह, जानु संधियों में दीर्घ-कालिक उद्रेचन या स्थानीय परि अस्थि आवरण प्रदाह ही होता है। धनात्मक एस० टी० एस० प्रतिक्रिया तथा उपदंश की चिकित्सा द्वारा लक्षणों के लोप द्वारा रोग विनिश्चय हो जाता है।

उत्तर जन्मजात उपदंश के मुख्य चिन्ह निम्नलिखित हैं—

सिर—जलाति शीर्ष, लघुकपाली, मूढ़ता

दाँत—विकास में विलम्ब और अनियमिता

प्रायः ऊपरी कर्तनकों (चित्र ३०) का हचिसनदंत होना जिसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(अ) एक दूसरे से अलग

(ब) खूँटी के आकार के, मूल की ओर मोटे किन्तु किनारे पर पतले

(स) अग्रभाग प्रवर्णाभूत या विदारित

(द) मून्स दंत-दल के कुविकसित होने के कारण पहले पश्च हानव्य गुम्ब-दाकार होते हैं।

आँख--पलकों, उपतारा एवं तारा की विरूपता

प्रपाद-असम वृद्धि या वामन वृद्धि

द्विदर कण्टका-मस्तिष्कावरणातिवृद्धि इत्यादि

हृदय-उन्मुक्त शुक्ति छिद्र एवं श्यामतोत्कर्ष

प्रारम्भिक जन्मजात उपदंश का निदान—इस अवस्था का निदान निम्नलिखित स्तम्भों पर आधारित है।

१—माँ में गर्भपात की घटनाओं का विवरण—गर्भपात की संख्या एवं गर्भाधान तथा गर्मपात के बीच की अवधि। ये गर्भपात प्रायः गर्भाधान के चार महीने बाद ही होते हैं। इससे माँ के उपदंश युक्त होने तथा भ्रूण में उपदंश संक्रमण का संकेत प्राप्त होता है।

२--शिशु जन्म के शीघ्र बाद शिशु की शरीर पर भाँति-भाँति के दानों का उभरना—विशेषकर हथेलियों तथा तलवों में छाले प्रकट होते हैं।

३—डार्क ग्राउण्ड (तिमिर भूमि) परीक्षण—कुन्तलांणुओं को दानों के स्राव में प्रदर्शित करना।

४—रक्त परीक्षण–उपदंश हेतु रक्ताम्बु परीक्षण (एस० टी० एस०)—यदि यह परीक्षण शिशु में जन्म के शीघ्र पश्चात् धनात्मक हो तो यह ज्ञात करने का समुचित प्रयत्न करना चाहिये कि क्या यह परीक्षण माँ के रोग के कारण शिशु में प्रकट हुआ है या शिशु में उपदंश के कारण से है। इस निरीक्षण की पुष्टि के लिये पहले ६ महीनों में बारम्बार रक्त परीक्षा आवश्यक है। शिशु के रक्त में धनात्मकता यदि पहले ६ महीने तक बनी रहे और इसकी मात्रा बढ़ती जाय तो यह अवश्य ही संकेत करता है कि शिशु में उपदंश का प्रभाव तीव्र गति से हो रहा है। यदि यह परीक्षण इस ६ महीने की अवधि में ऋणात्मक हो जाय तो शिशु को उपदंश से मुक्त समझा जा सकता है।

उत्तर जन्मजात उपदंश का निदान—यह निम्नलिखित बातों पर आधारित है :—

१—प्रारम्भिक जन्म जात उपदंश का विवरण जिसके विषय में उल्लेख किया जा चुका है।

२—'हचिन्सन-त्रिक'—इसमें निम्नलिखित तीन चिन्ह होते हैं :—

(क) हचिन्सन-दंत

(ख) अन्तरालीय कनीनिका-प्रदाह

(ग) आठवीं कपाली स्नायु की क्षति

३—**उपदंश हेतु रक्ताम्बु परीक्षा (एस० टी० एस०)**—यह इस अवस्था में प्रायः धनात्मक होता है और अन्य लक्षणों के साथ यह जन्मजात उपदंश का रोग विनिश्चय करता है।

जन्मजात उपदंश को चिकित्सा—जन्मजात उपदंश का निदान हो जाने पर इसकी चिकित्सा करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि प्रथम दो वर्षों के भीतर इसकी चिकित्सा की जा सके तो आगामी जटिलताओं से शिशु को बचाया जा सकता है। पेनिसिलिन इसके लिये भी विशिष्ट औषधि है जिसकी कुल मात्रा ४-५ लाख यूनिट प्रति कि० ग्राम शिशु भार होती है। इसे १० समान भागों में एक सूच्यानिक्षेप प्रति दिन तक दिया जाता है। साधारणतया प्रोकेन पेनिसिलिन का ही उपयोग किया जाता है। इस चिकित्सा से शिशु रोग के लक्षणों तथा चिन्हों से मुक्त हो जाता है। चिकित्सा की समाप्ति के पश्चात् अनुनिरीक्षण भी आवश्यक है और यह उसी प्रकार किया जाता है कि जिस प्रकार अर्जित उपदंश में।

उत्तर जन्मजात उपदंश की चिकित्सा भी इसी विधि से की जाती है जिसका कि वर्णन किया गया है और पेनिसिलिन की कुल मात्रा भी शिशु के भार पर निर्भर करती है।

द्वितीयक सर्ग

अध्याय ७

गुह्य मेह (गोनोरिया)

गुह्य मेह एक विशेष रोग है जो कि 'ग्राम' त्यागी गुह्य गोलाणुओं (गोनो को काई) के संक्रमण से उत्पन्न होता है। ये जीवाणु प्रायः मूत्र प्रजनन प्रणाली की श्लेष्मिक कला द्वारा अन्त: प्रवेश करते हैं और बाद में यह रोग प्रजनन संस्थान के अन्य अंगों में भी फैल जाता है। इनका प्रसार रक्त के द्वारा भी होता है जिसके कारण दूर के अंगों जैसे अस्थि सन्धियों में भी प्रदाह सन्न हो जाता है।

संक्रमण की प्रक्रिया—यह रोग किसी रोगी के साथ सम्भोग के पश्चात् प्राय: उत्पन्न होता है किन्तु कभी-कभी बिना संभोग के भी दूसरे तरीकों से हो सकता है। उदाहरणार्थ संक्रमित पदार्थ को छूने के बाद आँख को छू लेने से, गुह्य गोलाण्विक कंजंक्टाइवा प्रदाह, और तरुणावस्था के पूर्व कई लड़कियों में बहिर्भग एवं योनि मार्ग प्रदाह हो जाता है।

संचय काल—यह एक अवधि है जो किसी रोगी के साथ सम्भोग से लेकर रोग के लक्षणों के प्रकट होने तक की होती है; और साधारणतया ३ से ५ दिन तक ही होती है। यह अवधि कुछ दूसरे कारणों पर भी निर्भर करती है जैसे कि जीवाणुओं की घातकता, जीवाणुओं की संख्या तथा रोगी की रोग प्रतिरोध क्षमता इत्यादि । स्थानीय विकृति जैसे निरुद्ध-प्रकृष, अधोस्खलित मूत्रद्वार, मूत्रद्वार का बड़ा होना इत्यादि के कारण इस रोग की सम्भावना बढ़ जाती है।

इस अवधि में गुह्य गोलाणु अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं जिसके फलस्वरूप ये श्लेष्मिक कला के ऊपर फैलते जाते हैं, यहाँ तक कि ये मूत्रनलिका के पश्चिम भाग में तथा सम्बद्ध ग्रंथिल रचनाओं में भी प्रवेश कर जाते हैं और लक्षणों के

प्रकट होने के पहले ही ये अधोमूत्र प्रजनन प्रणाली में अत्यधिक संख्या में एकत्रित हो जाते हैं।

रोग के लक्षण एवं चिह्न—जिस समय यह रोग प्रकट होता है उस समय रोगी चिकित्सक के पास कई तरह के लक्षणों के साथ जा सकता है। ये लक्षण निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं:-

१—लक्षणरहित गुह्य गोलाण्विक मूत्र नलिका प्रदाह जो साधारणतया स्त्रियों में होता है।

२—मूत्र विसर्जन में जलन, दर्द या खुजली का अनुभव।

३—बार बार मूत्र विसर्जन करने की इच्छा।

४—अधिकांशतः मूत्र नलिका से बिल्कुल सफेद रंग का मवाद सा निकलता है।

५—उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त बहुधा रोगी मूत्रद्वार प्रदाह के कारण चिकित्सक के पास आते हैं।

चिह्न—साधारणतया गुह्य मेह का निदान उपरिलिखित लक्षणों द्वारा किया जाता है, किन्तु रोगी की जननेन्द्रियों का परीक्षण करना अति आवश्यक है। इसके द्वारा मूत्रद्वार का प्रदाह मिलता है और जननेन्द्रिय को दबाने से स्पष्ट पूय स्राव (चित्र ३१) होता है। इसके अतिरिक्त मूत्र-परीक्षा भी आवश्यक है। रोगी चिकित्सक के समक्ष अलग अलग दो काँच के पात्रों में मूत्र विर्सजन करता है। यदि पहले पात्र में मूत्र गाढ़ा या पंकिल है तो अग्र मूत्र नलिका संक्रमित समझी जाती है और यदि दूसरे पात्र में हो तो पश्च-मूत्र-नलिका।

निदान—रोगी का निदान निम्न बातों पर निर्भर करता है :—

१—किसी रोगी के साथ सम्भोग की घटना का विवरण एवं सम्भोग के पश्चात् लक्षणों के प्रकट होने के बीच की अवधि।

२—लक्षणों का प्रकट होना—

(अ) मूत्र विसर्जन में जलन, खुजली या दर्द ।

(ब) मूत्र द्वार से पूय स्राव ।

(स) मूत्र द्वार प्रदाह इत्यादि ।

३—मूत्र परीक्षा—दो काँच पात्रों में मूत्र परीक्षा ।

४—खिचित तन्तु परीक्षण—इसके द्वारा खिचित तन्तु को 'ग्राम' विधि द्वारा अभिरंजित करके 'ग्राम' त्यागी गुह्य गोलाणुओं को प्रदर्शित किया जाता है (चित्र ३२) !

५—गुह्य गोलाणुओं का संवर्धन—तथा किण्वीकरण परीक्षा :— इससे केवल दक्षधु का ही किण्वीकरण होता है ।

६—गुह्य गोलाणु संपूरक [illegible]करण परीक्षा (कंप्लिमेण्ट फिक्सेशन टेस्ट)—इस परी[illegible]चम भाग से [illegible]वहन शील प्रतियोगी पदार्थ हो तो स्टेण्डर्ड गुह्य गोल[illegible] की ओर चला [illegible] से उनकी उपस्थिति ज्ञात की जा सकती है । रोग के प्रारम्भ हो[illegible] सप्ताहों के पश्चात् ही इस परीक्षण के परिणाम धनात्मक होते हैं । इस परीक्षण के धनात्मक होने का अर्थ सदैव यह नहीं होता कि रोगी को गुह्य-मेह रोग ही है । क्योंकि यह परीक्षण गुह्य-मेह के लिए विशिष्ट परीक्षण नहीं है । यदि यह परीक्षण धनात्मक हो तो गुह्य गोलाणुओं को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

पुरुषों में गुह्य मेह द्वारा उत्पन्न जटिलताएँ—चिकित्सा के अभाव में गुह्य मेह विस्तृत होकर मूत्र प्रणाली के सम्बद्ध उपांगों को ग्रसित कर सकता है जैसे :—

१—शिश्नमणि प्रदाह ।

२—परिमूत्र नलिका प्रदाह—यह स्थिति प्रायः लक्षण रहित होती है, किन्तु यदि मूत्र द्वार का निरीक्षण किया जाय तो मूत्र द्वार का प्रदाह दृष्टि गोचर होता है । इसे दबाने पर मवाद सा निकलता है ।

३—शिश्न मलोत्पादक (टाइसन) ग्रन्थि प्रदाह—यह प्रायः शिश्न मणिप्रदाह की चिकित्सा के अभाव में प्रकट होता है। टाइसन ग्रन्थि के नलिका रंध्रो पर लाली सी होती है और इसे दबाने पर मवाद निकलता है (चित्र ३३)। कभी-कभी तन्तु रज्जु के किसी ओर एक विद्रधि भी प्रकट हो सकती है।

४—लिट्राइटिस तथा लैकुनाइटिस—जब ये ग्रन्थियाँ ग्रसित हो जाती है तो गुह्य मेह दीर्घ कालिक हो जाता है और निरंतर बना रहता है। रोगी साधारणतया चिकित्सक के समक्ष मूत्र नलिका प्रदाह के रूप में प्रस्तुत होता है, जिसकी विशेषतायें हैं—बारम्बार मूत्र विसर्जन की इच्छा, या मूत्र विसर्जन से पीड़ा तथा पूय स्राव।

५—परिमूत्र नलिका प्रदाह—लिटर्स ग्रन्थि का नलिका द्वार अवरुद्ध हो जाने पर परिमूत्र नलिका व्रण [illegible] जाता है जिसका निरीक्षण करने पर शिश्न के चारों ओर शोथ मिल[illegible]त्सा के अभाव में बढ़ता ही जाता है।

६—मूत्र प्रसेक पार्श्वकीय (कूपर) ग्रन्थि प्रदाह—प्रायः रोगी इस दशा में मूलाधार पीठ में, विशेषकर उठते बैठते समय, पीड़ा का अनुभव करता है। यह पीड़ा कुछ समय के पश्चात् अण्डकोश, मलांत्र तथा जांघों के मध्यवर्ती क्षेत्रों में विस्तृत होती जाती है। कभी-कभी प्रतिक्षेप जन्य बारम्बार मूत्र विसजन रोगी के लिये अत्यधिक कष्टप्रद हो जाता है। अंगूठे को मूलाधार पीठ की मध्य रेखा में गुदाद्वार के पीछे रख कर यदि गुदा में तर्जनी द्वारा स्पर्श परीक्षण किया जाय तो अंगूठे और अंगुली के बीच इस ग्रन्थि पिण्ड का आभास होता है।

७—अष्ठीला (प्रास्टेट) ग्रन्थि प्रदाह—यदि गुह्य मेह संक्रमण का विस्तार ऊपर की ओर होता है या होता रहे तो मूत्र नलिका के पश्चिम भाग में तथा अष्ठीला (प्रास्टेट) ग्रन्थि का प्रदाह हो जाता है जिनके लक्षण समान

होते हैं जैसे—बार बार मूत्र विसर्जन की इच्छा, पीड़ा तथा शनैः शनैः पूय स्राव में कमी इत्यादि। इसके साथ-साथ रोगी अपने आप में कमजोरी, भूख में कमी तथा अधिक तापक्रम का अनुभव करता है। गुदा द्वारा परीक्षण करने पर स्पर्श-असह्यता, पिण्ड, स्थानीय तापक्रम में वृद्धि, अष्ठीला (प्रास्टेट) ग्रन्थि की सतह में असमानता तथा कभी-कभी विद्रधि मिलती है।

८—मूत्राशय प्रदाह—इसके लक्षण भी पश्चमूत्र नलिका प्रदाह के समान होते हैं मूत्र विसर्जन में बारम्बारता, पीड़ा युक्त मूत्र विसर्जन तथा रक्त युक्त मूत्र विसर्जन आदि लक्षण मूत्राशय-प्रदाह की ओर संकेत करते हैं। कभी-कभी पीड़ा युक्त शिश्नोत्थान का भी अनुभव होता है। गुदाद्वारीय परीक्षण करने पर फूला हुआ, स्पर्शासह्यता पूर्ण मूत्राशय पिण्ड मिलता है।

९—अधिवृषणिका (एपिडिडिमिस) प्रदाह—यदि गुह्य मेह संक्रमण का विस्तार मूत्र नलिका के पश्चिम भाग से तथा प्रास्टेट से होता हुआ रेतोवाहिनी (वास डिफरेन्स) की ओर चला जाय तो अधिवृषणिका-प्रदाह हो जाता है, और रोगी प्रायः विशेषज्ञ के सम्मुख वृषण में पीड़ा के साथ आता है। परीक्षण करने पर अण्डकोश में शोथ, लाली तथा कठोरता मालूम पड़ती है और छूने पर रोगी पीड़ा के कारण चिल्ला उठता है। इसके अतिरिक्त रोगी को ज्वर भी रहता है। साधारणतया एक पार्श्वीय अधिवृषणिका प्रदाह ही होता है। यदि रेतोवाहिनी का प्रदाह हो तो छूने पर एक कठोर नली सी अनुभव की जा सकती है।

स्त्रियों में गुह्य मेह के लक्षण और चिह्न—संचय-काल और संक्रमण प्रक्रिया स्त्रियों में भी पुरुषों की ही तरह वैसी ही होती है। गुह्य गोलाण्विक मूत्रनलिका प्रदाह अपनी उग्र अवस्था में चिकित्सक के पास निम्न रूपों में प्रकट हो सकते हैं।

लक्षण—१—यह लक्षणविहीन हो सकता है।

२—या कभी-कभी तीव्र भी हो सकता है।

३—साधारणतया रोगिणी बारम्बार मूत्र विसर्जन की इच्छा का अनुभव करती है।

४—मूत्र विसर्जन में रुकावट आ जाने के कारण मूत्र संचय होना।

५—रक्त युक्त मूत्र विसर्जन का होना।

६—कभी-कभी रीढ़ की हड्डी में दर्द के होने का अनुभव होता है।

७—मासिक धर्म में परिवर्तन होना जैसे अधिक रक्तस्राव, कष्ट पूर्ण मासिक धर्म आदि।

८—योनिमार्गीय स्राव चाहे कम हो या अधिक किन्तु इस रोग में लगभग सदैव ही होता है।

चिह्न—उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त लिथाटमीमुद्रा में जननेंद्रियों का निरीक्षण एवं स्पर्श परीक्षण भी गुह्य मेह के निदान के लिए अति आवश्यक है। निरीक्षण करने से पहले स्त्री को कम से कम तीन चार घण्टे तक मूत्र विसर्जन नहीं करना चाहिये क्योंकि मूत्र नलिका का स्राव मूत्र विसर्जन के साथ-साथ निकल जाता है।

१—भग प्रदेश को साफ कर लेने के बाद अंगुली से मूत्र नलिका को दबाने से पूय स्राव या सफेद मवाद निकलता है।

२—कभी-कभी मूत्र द्वार पर प्रदाह भी देखा जाता है।

३—इसके अतिरिक्त गर्भाशय-ग्रीवा का निरीक्षण करने पर रक्तिमा तथा श्वेत स्राव दिखाई पड़ता है किन्तु साधारणतया यह लक्षण हीन होता है, केवल परीक्षण द्वारा ही ये चिन्ह मिलते हैं।

४—डिम्ब प्रणाली और डिम्बाशय के ग्रसित होने को ज्ञात करने के लिए उदर का स्पर्श परीक्षण भी साथ ही साथ आवश्यक है।

निदान—स्त्रियों के गुह्य मेह का निदान निम्न बातों पर आधारित है :—

१—किसी रोगी के साथ सम्भोग की घटना का विवरण तथा सम्भोग के बाद लक्षणों के प्रकट होने का समय ।

२—बारम्बार मूत्र विसर्जन की इच्छा, मूत्र विसर्जन में कष्ट, रक्त पूर्ण विसर्जन, मासिक धर्म में परिवर्तन—अधिक रक्त स्राव या कष्ट पूर्ण मासिक धर्म—या योनिमार्गीय पूय स्राव इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

३—जननेन्द्रिय के परीक्षण द्वारा मूत्र नलिका प्रदाह, तथा गर्भाशय ग्रीवा प्रदाह के साथ-साथ पूय स्राव निदान की पुष्टि करते हैं ।

४—पति का नैदानिकीय परीक्षण

५—खिचित तन्तु परीक्षण

६—जीवाणुकी संवर्धन तथा किण्वीकरण परीक्षण

स्त्रियों में जटिलतायें—१—कभी-कभी स्किनीज ग्रन्थि का प्रदाह हो जाता है, जिसके कारण इस ग्रन्थि को दबाने से सफेद रंग का मवाद मूत्र-नलिका से निकलता है । कभी-कभी इस ग्रन्थि में विद्रधि बन जाती है जिसका कि अंगुली के द्वारा योनिमार्ग की अग्रिम दीवार से मूत्र-नलिका के किसी भी पार्श्व में स्पर्शण किया जा सकता है ।

२—यदि गुह्य मेह लगातार कुछ समय तक चिकित्सा के अभाव में बना रहे तो यह विस्तृत होकर योनि द्वारिका (बार्थोलिन) ग्रन्थि को ग्रसित करता है और बार्थोलिन प्रदाह उत्पन्न हो जाता है । इसके कारण रोगी को चलने फिरने में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है । क्योंकि चलने फिरने से इस ग्रन्थि में अत्यधिक पीड़ा होती है । यदि ऐसे रोगी का निरीक्षण किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि बहिर्भग लाल सा दिखाई पड़ता है तथा आगे को ओर निकला हुआ प्रतीत होता है । यदि अंगुलि के द्वारा इसका परीक्षण करें तो रोगी को

पीड़ा होती है तथा दबाने से बार्थोलिन ग्रन्थि की नलिका से सफेद रंग का मवाद प्रकट होता है। कभी-कभी यदि यह बढ़ती रहे तो विद्रधि भी बन सकती है।

३—मूत्राशय-प्रदाह यदि गुह्य मेह का विस्तार ऊपर की ओर हो तो मूत्राशय प्रदाह भी हो सकता है और रोगी को प्रायः बारम्बार मूत्र विसर्जन की इच्छा होती है या रक्त युक्त मूत्र विसर्जन भी हो सकता है।

४—श्रोणि (पेल्विक) प्रदाह—गुह्य मेह का विस्तार यदि श्रोणि में हो तो रोगी चिकित्सक के समक्ष कई रूपों में प्रकट हो सकता है, जैसे—

१—उदर में तीव्र पीड़ा

२—मिचली तथा उल्टी का आना

३—मासिक धर्म में अधिक रक्त स्राव

४—मासिक धर्म में पीड़ा

५—सम्भोग में पीड़ा

६—रोगिणी को प्रायः ज्वर रहता है जो कि १०२° के ऊपर साधारणतया नहीं जाता।

७—बन्ध्यापन

चिन्ह—रोगिणी का परीक्षण करने पर निम्नलिखित चिन्ह मिलते हैं :—

१—डिम्बाशय-डिम्ब प्रणाली के प्रदाह की स्थिति में योनिमार्ग के द्वारा एक पिण्ड स्पर्शण किया जा सकता है जिसमें कभी-कभी तरंग प्रतीति भी मिल सकती है।

२—उसके अतिरिक्त गर्भाशय पीछे की ओर तन्तुओं से स्थिरीकृत होता है।

३—कभी-कभी उदर के निचले भाग में दबाने पर रोगिणी को पीड़ा का अनुभव होता है।

गुह्यमेह (गोनोरिया) का विभेद निदान—इसका विभेद निदान अवि-

शिष्ट मूत्र नलिका प्रदाह जो कि विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं के कारण हो सकता है आवश्यक है। यह जीवाणु निम्न प्रकार के होते हैं :—

१—बेसीलस कोलाई

२—बेसीलस प्रोटियस

३—प्लूरोन्यूमोनिया सम सूक्ष्मजीव

४—ट्राइकोमोनास वैंजाइनेलिस (चित्र ३४)

५—स्टैफिलोकोकस इत्यादि

इस रोग का लाक्षणिक निदान गुह्यमेह से साधारणतया अधिक विभिन्न नहीं होता किन्तु इसकी पुष्टी प्रायः जीवाणुओं के प्रदर्शन तथा सम्त्रर्धन द्वारा ही हो सकती है। विभिन्न जीवाणुअों की प्रकार-प्रकार की विशेषतायें होती हैं जिनका सम्त्रर्धन विधि से विभेद किया जा सकता है।

चिकित्सा—गुह्य-मेह का निदान हो जाने पर यह आवश्यक है कि रोगी की शीघ्र चिकित्सा की जाय। चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी को इस रोग के विषय में अच्छी तरह जानकारी दे देनी चाहिये जिससे कि इस रोग की यथा सम्भव रोकथाम की जा सके। इस विषय में कुछ बातें रोगी को अवश्य करनी चाहिये जिससे कि रोग का विस्तार अन्य भागों में न होने पाये। ये बातें निम्नलिखित हैं और इनका पालन करना कम से कम दो सप्ताह बाद तक आवश्यक है।

१—किसी भी प्रकार का अधिक परिश्रम न करना।

२—(क) साइकिल न चलाना।

(ख) घोड़े की सवारी न करना इत्यादि।

३—मद्यपान न करना।

४—जब तक कि गुह्यमेह उपस्थित है तब तक सम्भोग से रोगी का

वर्जित रहना चाहिये। चिकित्सा पूर्ण हो जाने के ३ महीने पश्चात् तक इसका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

विशिष्ट चिकित्सा—गुह्य गोलाणुओं का विनाश पेनिसिलिन द्वारा किया जा सकता है, अतः पेनिसिलिन ही इस रोग की चिकित्सा का आधार है। इस औषधि का प्रभाव रक्त में कम से कम २४ घन्टे तक रहना चाहिये और रक्त में इसकी मात्रा १ यूनिट प्रति मि० ली० होनी आवश्यक है। विलयनशील पेनिसिलिन यथा क्रिस्टलाइन—एवं प्रोकेन पेनिसिलिन का सेवन अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसकी मात्रा साधारणतया ६ लाख से १२ लाख यूनिट तक की, किसी भी रोगी के लिये लाभप्रद होती हैं; और रोगी प्रायः २४ घण्टे के भीतर रोग के लक्षणों तथा चिन्हों से मुक्त हो जाता है। हमारा जहाँ तक अनुभव है केवल एक ही बार १२ लाख युनिट पेनिसिलिन का सेवन अति संतोषजनक सिद्ध हुआ है और रोगी २४ घण्टे के भीतर लक्षणों तथा चिन्हों से मुक्त हो जाता है। कभी-कभी उपरिलिखित चिकित्सा किसी रोगी में असफल हो जाती है, उस दशा में अधिक मात्रा में पेनिसिलिन का उपयोग करना पड़ता है और सम्भवतः ब्राडस्पेक्ट्रम ऐण्टिबयोटिक का भी पेनिसिलिन के साथ-साथ उपयोग करना पड़े। कुछ रोगी जिनमें गुह्य गोलाणु विलयनशील पेनिसिलिन के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न करते हैं उनमें पाम (पी० ए० एम०) का उपयोग करना पड़ता है, जिसकी मात्रा साधारणतया १२ लाख यूनिट होती है। इस प्रकार से पेनिसिलीन का वृक्क के द्वारा विसर्जन कम हो जाता है अतः रक्त में इसकी प्रचुर मात्रा अधिक समय तक बनी रहती है।

कभी-कभी कुछ रोगी पेनिसिलिन की चिकित्सा से स्वस्थ नहीं हो पाते उस दशा में चिकित्सक को अन्य औषधियों के विषय में सोचना पड़ता है। इनमें निम्नलिखित लाभदायक सिद्ध हुई हैं।

१—टेट्रासाइक्लिनें जैसे क्लोर टेट्रासाइक्लिन, आक्सी टेट्रासाइक्लिन।

प्रायः इनका उपयोग मौखिक होता है या साथ ही साथ अन्तः मांसपेशीय

सूच्यानिक्षेप द्वारा भी हो सकता है। इनकी मात्रा मौखिक मार्ग द्वारा कुल दो से चार ग्राम है, जिसे चार-आठ समान भागों में छः छः घण्टे के अन्तर पर दिया जाता है। अतः मांस पेशीय द्वारा उसकी मात्रा २५० मि० ग्रा० प्रतिदिन दो दिन तक के लिये लाभप्रद सिद्ध हुई है।

२—स्ट्रेप्टोमाइसिन—यह औषधि भी प्रायः गुह्यमेह के साथ सहवर्ती उपदंश संक्रमण में अति प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इसकी मात्रा दो ग्राम है जिसे दिन में दो बार अन्तःमांसपेशी द्वारा दिया जाता है, और रोगी चौबीस घण्टे के अन्दर स्वस्थ हो जाता है।

३—क्लोरमफैनिकॉल—कभी-कभी यह औषधि भी लाभदायक सिद्ध होती है किन्तु यह एक विषैली औषधि है अतः इसका प्रयोग बड़ी सतर्कता से करना पड़ता है।

४—उपरिलिखित औषधियों के अतिरिक्त कई चिकित्सकों ने अन्य औषधियों जैसे डिमिथाइल क्लोर टेट्रासाइक्लिन (लेडर माइसिन), एरिथ्रो माइसिन आदि के प्रयोग से अच्छे परिणाम प्रकाशित किये हैं।

रोगी के अतिरिक्त यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके पति, पत्नी या अन्य व्यक्ति जिसके द्वारा इस रोग का विस्तार हुआ उसकी चिकित्सा की जाय, अन्यथा रोग का निवारण करना अत्यन्त दुष्कर होगा। स्त्री और पुरुष में जहाँ तक चिकित्सा का प्रश्न है कोई अन्तर नहीं है।

अनुनिरीक्षण—रोगी की चिकित्सा तब तक अपूर्ण रहती है जब तक कि उसका अच्छी तरह बारम्बार एक विशेष विधि द्वारा चिकित्सा समाप्त होने पर परीक्षण न किया जाय।

पुरुषों में—प्रत्येक रोगी को विशिष्ट चिकित्सा समाप्त होने के तीसरे दिन प्रातःकाल मूत्र विसर्जन करने से पूर्व बुलाकर रोग के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये जैसे—मूत्र विसर्जन में पीड़ा, जलन, या मवाद का आना

इत्यादि तथा उसके अतिरिक्त यदि कोई रोग का चिन्ह उपस्थित हो। इसके पश्चात् मूत्र द्वार के स्राव का "ग्राम"—विधि द्वारा गुह्य गोलाणुओं के लिये तन्तु-खिचित-परीक्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् रोगी को दो काँच के पात्रों में मूत्र विसर्जन करना चाहिये जिससे कि मूत्र नलिका की पूर्व तथा पश्चिमी भाग की स्थिति ज्ञात की जा सके। इसी प्रकार चिकित्सा की समाप्ति के दसवें दिन भी परीक्षण करना चाहिये।

तदनन्तर आगामी माह में पुनः रोगी का प्रत्येक पन्द्रहवें दिन इसी प्रकार निरीक्षण करना चाहिये तथा रोगी को अगले दो महीनों में एक-एक बार बुलाकर उपरिलिखित परीक्षणों को अवश्य करना चाहिये। यदि इस अवधि में (३ महीना) कोई प्रतिकूल संकेत न मिले तो रोगी को पूर्ण रूप से स्वस्थ प्रमाणित करना चाहिये।

स्त्रियों में—जो रोगिणी गुह्यमेह से प्रभावित हो चुकी हों और जिसकी पूर्ण विशिष्ट चिकित्सा समाप्त हो गयी हो उसका अनुनिरीक्षण करना अति आवश्यक है। रोगिणी को चिकित्सा की समाप्ति के पहले महीने में प्रति सप्ताह, दूसरे तथा तीसरे महीने में एक-एक बार तथा हो सके तो रजस्वला होने के ठीक बाद, उसी प्रकार जिस प्रकार की पुरुषों में बताया गया है, निरीक्षण तथा परीक्षण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त योनिमार्गीय स्राव में ट्राइकोमोनास वैजाइनेलिस प्रदर्शित करने का प्रयास करना चाहिये। दोनों हाथ से निचले उदर तथा जननेन्द्रिय का परीक्षण करना आवश्यक है यदि उपरिलिखित परीक्षण में कुछ न मिले तो रोगी को तीन महीने के बाद स्वस्थ प्रमाणित कर देना चाहिये।

तृतीयक सर्ग

अध्याय ८

फिरंग व्रणाभ (शैंकराभ)

फिरंग व्रणाभ—इसे "मृदु फिरंगव्रण" भी कहते हैं। यह जननेन्द्रियों का उग्र, स्थानीय, एवं आत्म आवपनशील संक्रमण है जिसके उत्तरदायी डुक्री के मालादण्डाणु (हिमोफिलस डुक्रियाई) हैं। इस रोग की विशेषता आवपन स्थान में क्षतभवन और सम्बद्ध लसग्रन्थियों का पूयण (प्रदाहवद) है।

घटितव्यता—पूर्वी देशों, अपन मण्डलीय क्षेत्रों एवं अधो-अपन मण्डलीय क्षेत्रों में इस रोग को घटितव्यता अधिक है। सम्भवतः नैदानिक कठिनाइयों के कारण स्त्रियों में आश्चर्यजनक रूप से कम अभिलिखित है फिर भी विश्व के कुछ क्षेत्रों में वेश्याओं के लिये यह विशेष विपत्तिकारी प्रतीत होती है। इसे "समाज में पतित और आर्थिक रूप से अभागे लोगों" के रोग के रूप में वर्णित किया गया है।

कारकजीवाणु—शोण पियाणु (हि० डुक्रियाई) एक प्रकार का कृशित, अल्प काय, ग्रामत्यागी दण्डाणु है जिसके किनारे गोल होते हैं। ये जीवाणु-वृन्द शृंखलाओं में प्रबन्धित होते हैं। जननेन्द्रियों के खुले प्रविकारों से इन जीवाणुओं को प्राप्त कर पाना कठिन है, क्योंकि इनमें प्रायः द्वितीयकजीवाणु संक्रमण हो जाता है। यदि वंक्षणीय विद्रधि से निर्हरित पूय की परीक्षा की जाय तो इन जीवाणुओं को पहचाना जा सकता है। यह जीवाणु दुराराध्य होता है और इसका प्रायोगिक संवर्धन अति कठिन है। सबसे उत्तम परिणाम मानव रुधिर या हीनतान्तुक शशक रुधिर के माध्यमों से मिले हैं।

लाक्षणिक विशेषतायें—उद्भवन अवधि अल्पकालीन अर्थात् एक से सात दिन तक की होती है। प्रविकार एक भी हो सकता है किन्तु प्रायः अनेक होते

हैं (चित्र १०, ३४)। जननेन्द्रियों के अतिरिक्त फिरंग व्रणाभ विरले ही होते हैं और लगभग सदैव प्रथम प्रविकार जननेन्द्रिय पर ही होता है। यह एक नन्हीं सी प्रदाहशील अंकुरिका होती है जो चारों ओर से एक पतले अतिरक्तिमा के कटिबन्ध से घिरी होती है। सपूयपीड़िका फूटकर स्पष्ट सीमाबद्ध, पीड़ायुक्त क्षत बन जाती है जिसके तटचिथड़े और अन्तर्मुखी होते हैं। पूय को हटाने पर रक्त वाहिनियों के कणकारी तन्तुओं से बना हुआ क्षत का तल दिखाई पड़ता है। प्रविकार छिछले होते हैं और इनका व्यास चन्द मिलीमीटरों से लेकर दो सेण्टीमीटर तक हो सकता है। इनमें स्पर्शासह्यता होती है और छूने से रक्तस्राव होने लगता है। कभी-कभी क्षत अनुरेखीय रीति से विस्तार करता है और एक लम्बा, संकरा तथा उपरिष्ट प्रविकार उत्पन्न हो जाता है। यहाँ क्षतव्रण का आधार जारठ्यहीन होता है जब कि प्राथमिक उपदंश में जारठ्य शील संक्रमित स्त्रियों की मुख्य समस्या जलन की वेदना होती है, जो क्षत पर से मूत्र प्रवाहित होने से उत्पन्न होती है।

फिरंगव्रणाभ रोग में विभिन्न लाक्षणिक चित्र प्रकट हो सकते हैं। इस रोग के मुख्य लाक्षणिक प्रकार निम्नांकित हैं।

१—केशगर्भीय फिरंग व्रणाभ—केश गर्भ से प्रादुर्भूत होता है और प्रारम्भ में पूय गोलाणु जनित केश गर्भ प्रदाह के समान प्रतीत होता है, किन्तु फिरंग व्रणाभ की सपूय पीडिकायें शीघ्र ही क्षत में परिणत हो जाती है। ये प्रविकार बहिर्भग में एवं जननेन्द्रियों के परिवेश के केशयुक्त क्षेत्रों में होते हैं तथा अत्यन्त उपरिष्ठ हुआ करते हैं।

२—वामन फिरंग व्रणाभ—अत्यन्त नन्हा प्रविकार है जो जननेन्द्रिय त्रिसर्पिका के अपक्षरण सा प्रतीत होता है इस प्रविकार का तल ऊबड़ खाबड़ और तट तीक्ष्ण तथा रक्तस्रावी होता है।

३—अस्थायी फिरंग व्रणाभ—(शैंकर मऊ बालेण्ट)—यह नन्हा प्रविकार प्रारुपिक फिरंग व्रणाभ का ही एक प्रकार है जो कुछ दिनों में ही ठीक हो जाता है किन्तु २-३ सप्ताह में प्रायः वंक्षणीय प्रदाह शील बद उत्पन्न हो

जाता है। इसकी अस्थायी प्रवृत्ति एवं वंक्षणीय लसग्रन्थियों में प्रभाव, आदि के कारण इसमें तथा लसकणार्बुदरमणम के निदान में विभेद करना पड़ता है।

४—अंकुरिकात्मक फिरंग व्रणाभ (अल्सस माले एलिवेटम्)—यह एक क्षत के रूप में प्रारम्भ होता है किन्तु बाद में जाकर उभर आता है, विशेषकर अपने तटों पर। यह उपदंश की द्वितीयक अवस्था के गण्डार्बुद-विस्तृता के समान लगता है।

५—विराट फिरंग व्रणाभ—एक नन्हें क्षत से प्रारम्भ होकर शीघ्र ही वृहदाकार हो जाता है। यह प्रायः वक्षणीय विद्रधि के फूटने से भी हो सकता है और आत्मआवपन द्वारा ऊर्ध्व विपट प्रदेश एवं जांघों तक विस्तृत हो सकता है।

६—कोथव्रणीय फिरंग व्रणाभ—यह नन्हें प्रविकार से प्रारम्भ होकर तन्तुओं के विस्तृत धातुनाश के साथ, बड़ा और विध्वंसकारी बन जाता है। बाह्य जननेन्द्रियाँ भी विनष्ट हो सकती हैं। कुछ अवसरों पर चक्राणु जन्य (विन्सेण्ट्स जीवाणुओं का) अधि आरोपित संक्रमण भी इस प्रक्रिया में भाग लेता है (चित्र ३५)।

ग्रसित स्थान—पुरुषों में फिरंग व्रणाभीय प्रविकार बहुधा जननेन्द्रियों में होते हैं, विशेषकर मणिच्छद द्वार, मणिच्छद की श्लेष्मिक सतह, रज्जुतन्तु और मूत्रनलिका द्वार में। ये प्रविकार बढ़कर मूलाधार पीठ, गुदा, अण्डकोष, जांघों एवं निम्नोदर तक पहुँच सकते हैं। कभी-कभी हाथ एवं मुख में भी होने का वर्णन मिलता है। स्त्रियों में क्षत साधारणतया भंगाजलिका में तुम्बिकाधार पर, मूत्र द्वार के चारों ओर तथा क्षुद्र भगोष्ठ के अन्दर की ओर होते हैं। मूलाधार पीठ भी ग्रसित हो सकती है तथा अपत्यपथीय क्षत भी कभी-कभी मिल सकते हैं। जननेन्द्रियों के अतिरिक्त प्रविकारों यथा स्तनों पर के प्रविकारों का भी वर्णन मिलता है।

जटिलतायें—१—वंक्षणीय विद्रधि-(प्रदाहशील वद)—वंक्षणीय लसग्रन्थियों

का पूयणशील प्रदाह बहुघटित विशेषता है। यह प्रायः एक पार्श्वीय होता है। लसग्रन्थि में स्पर्शासह्यता आ जाती है और यह स्थूल तथा आपस में कट्टित होकर एककोष्ठीय विद्रधि बनाती है। वहाँ की त्वचा में रक्ताधिक्यता आ जाती है और तरंग प्रतीति भी अनुभव होती है। चिकित्सा के अभाव में विद्रधि फूट कर स्रोतस बनाती है जिसके टूटने से फिरंग व्रणाभ क्षत वृहदाकार होकर विराट फिरंगव्रणाभ बन जाता है। वंक्षण प्रदेश में विद्रधि निर्माण लगभग ५० प्रतिशत चिकित्सारहित रोगियों में हो जाता है। वृहद प्रविकारों की अपेक्षा क्षुद्र प्रविकार, अधिकतर वद निर्माण की जटिलतायें उत्पन्न करते हैं।

२—मणिच्छद के प्रविकार निरुद्ध प्रकष एवं अवपाटिका उत्पन्न कर सकते हैं।

३—मूत्र नलिका की क्षतनलिका शिश्नमणि के विध्वंसकारी क्षत के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। मूत्र विसर्जन से अतिशय पीड़ा होती है।

४—सहवर्त्ती संक्रमण-चक्राणुजन्य (विन्सेण्ट्स) जीवाणुओं के सहवर्त्ती संक्रमण से प्रविकारों की विध्वंस प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इस जटिलता के उत्पन्न होने के कारण चिकित्सा प्रायः प्रभावकारी नहीं रह पाती।

फिरंगव्रणाभ के रोगियों में उपदंश, लसकणार्बुद रमणम् या वंक्षणीय कणार्बुद भी हो सकती है।

निदान—

१—सम्भोग की घटना का विवरण

२—तथा सम्भोग एवं क्षत प्रकट होने के बीच की अवधि

३—पीड़ा की उपस्थिति

४—साधारणतया कई क्षतों का एक साथ होना

५—एक पार्श्वीय प्रदाह शील वद

६—तन्तु खिचित परीक्षण-क्षत से लिये गये खिचित तन्तु को ग्राम विधि या पैपनहेम-विधि द्वारा अभिरंजित किया जा सकता है।

७—प्रयोगिक संवर्धन—जैसा कि बताया जा चुका है कि यह जीवाणु दुराराध्य है, किन्तु फिरंगव्रणाभ क्षत या बदपूय तथा रक्तयुक्त माध्यमों में संवर्धन के परिणाम अच्छे हुए हैं। इस विधि या अन्य विशिष्ट विधि के द्वारा ५९ से ९० प्रतिशत सफलता मिल सकती है। इसकी तकनीक कठिन है, और यह सन्देहात्मक भी प्रतीत होता है कि संवर्धन की विधियों में इतनी उन्नति की जा सकेगी कि उन क्षेत्रों में भी जहाँ इस रोग के अत्यन्त अल्प संख्यक ही रोगी होते हैं, वहाँ सवर्धन द्वारा महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हो सके।

८—चर्मान्तरिक प्रपरीक्षण (आइटो रीनस्टर्नी टेस्ट)—यह परीक्षण कभी-कभी इन रोगियों में धनात्मक होता है। यदि यह धनात्मक हो तो रोग की पुष्टि करता है।

९—जीवोति परीक्षा—फिरंग व्रणाभ रोगियों में यह परीक्षा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है और निम्नलिखित विशेषतायें मिलती हैं :—

(क) बाहरी सतह क्षत की कोशिकाओं की होती है और भीतर दो और स्तरें।

(ख) रक्त वाहिनियों का अन्तस्तरीय प्रफलन दृष्टिगोचर होता है, विशेषकर मध्यक्षेत्र में जहाँ पर कि अन्तस्तरीय कोशिकायें अन्य कोशिकाओं से कहीं अधिक होती हैं।

(ग) मध्य क्षेत्र में सराहनीय प्रफलन की कमी।

(घ) रक्त वाहिनियों का निचूषण और उनकी भीतियों का अपकर्ष होता है तथा कभी-कभी घनास्रता भी।

(ङ) भीतरी क्षेत्र में प्लाविका कोशिकाओं एवं लसकोशिकाओं का सघन अन्त.सरण होता है।

१०—आत्म-आवपन—शुद्ध संवर्धन द्वारा जीवाणु का पृथक्करण करके और उसे पुनः आवपन करके प्रारुपिक प्रविकारों को उत्पन्न करना भी रोग के निदान की एक विधि है। रोगी के क्षत से पदार्थ लेकर रोगी को ही किसी स्वस्थ स्थान में उसे आवपित करके रोग विनिश्चय करने की विधि अत्यन्त प्राचीन है। अब यह विधि प्रायः उपयोग में नहीं लाई जाती क्योंकि बहुधा आवपन 'ग्रहण' नहीं होते।

फिरंग व्रणाभ (शैंकराभ) का विभेद निदान—इस रोग का विभेद दूसरे अन्य रोगों से करना आवश्यक है जिसका विवरण पहले दिया गया है।

चिकित्सा—यदि फिरंग व्रणाभ की उपरिलिखित विशेषताओं से निदान हो जाय तो इस रोग के विस्तार को रोकने के लिये तुरंत विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये और साथ ही साथ रोगी को यह भी स्पष्ट शब्दों में बता देना आवश्यक है कि यदि रोगी किसी दूसरे व्यक्ति के साथ सहवास करेगा तो इस रोग का संक्रमण दूसरों में भी हो सकता है। इसके साथ साथ यह भी जानना चिकित्सक के लिये अति आवश्यक है कि इस रोग का दाता कौन है। यदि इसका पता लग जाय तो दाता की भी विशिष्ट चिकित्सा करना उतना ही आवश्यक है जितना कि रोगी का।

विशिष्ट चिकित्सा—

१—**स्थानीय चिकित्सा**—स्थानीय प्रतिपूयिक औषधियाँ वर्जित हैं क्योंकि इनके उपयोग से प्रारम्भिक उपदंश के निदान में बाधा पड़ती है। छोटे और प्रारम्भिक प्रविकार सामान्य लवणीय विलयन द्वारा स्थानीय प्रक्षालन करने और स्रावण बनाये रखने से ही आरोग्य हो जाते हैं। बड़े और कुछ पुराने प्रविकारों के लिये अन्य विधियों की आवश्यकता पड़ती है।

२—**संहतिकीय चिकित्सा**—सल्फोनामाइड्स (शुल्वौषधियाँ) यथा सल्फाथियाजाल और सल्फाडायाजीन, या ट्रिपुल सल्फोनामाइड्, मौखिक

मार्ग से तत्काल २ से ४ ग्राम, तत्पश्चात् १ ग्राम प्रत्येक घन्टे पर जब तक प्रविकार पूर्ण रूपेण पूरित नहीं हो जाते, सेवन करना चाहिये। इसमें १० से १४ दिन लग सकते हैं। सफल चिकित्सा के लिये स्रावण बनाये रखना आवश्यक है, जिसके लिये मणिच्छद के पृष्ठ भाग में दरार भी उत्पन्न करना पड़ सकता है। पूयणशील बद का भेदन नहीं करना चाहिये, अपितु इसे निर्हरित करना चाहिये--यदि आवश्यक हो तो कई बार। सल्फाथायाजाल और सल्फाडायाजीन के स्थान पर दीर्घकाल प्रभावी शुल्वौषधियाँ यथा सल्फामिथाक्सी पाइरिडाजीन १·५ ग्राम पहले दिन और ०·५ ग्राम शेष अगले दिनों में सेवन करनी चाहिये। शुल्वौषधियों के छोटे मोटे विषालु प्रभाव जैसे सिरदर्द और अरति इत्यादि उपरिलिखित औषधि से कम होते हैं।

(ख) मालाक्वकिन (स्ट्रेप्टोमाइसिन) भी एक गुणकारी औषधि है तथा इससे उपदंश के निदान में भी बाधा नहीं पड़ती। ५ से १० दिन तक के लिये प्रति दिन १ ग्राम सूच्यानिक्षेप द्वारा सेवन किया जा सकता है, अकेले या शुल्वौषधियों के साथ। शुल्वौषधि और मालाक्वकिन का योग विशेषकर बद की उपस्थिति में अधिक उपयोगी है, या तब जब कि प्रविकार में केवल शुल्वौषधि द्वारा लाभ न हो रहा हो।

(ग) चतुर्भ्रमयः एवं जारक चतुर्भ्रमयः (टेट्रा साइक्लिन एवं आक्सी-टेट्रासाक्लिन)--२५० मि० ग्राम प्रति छः घण्टों की मात्रा में इसका सेवन गुणकारी होता है किन्तु इन औषधियों पर व्यय अधिक पड़ता है और उपदंश के निदान में भी बाधा पड़ती है। अतः शुल्वौषधियाँ और मालाक्वकिन ही श्रेयस्कर है।

(घ) निरेयी दर्शेन्यिकाव (क्लोरम फेनिकाल)--मौखिक सेवन द्वारा प्रभावोत्पादक तो होती है किन्तु इसके विषालु प्रभाव अधिक होते हैं।

अध्याय ६

रतिज रोगों का निवारण एवं नियंत्रण

जनपदोध्वंस चर्चा – समाज में रतिज रोगों की समस्या उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही है। इन रोगों की चिकित्सा सरल है तथा अधिकांशतः योग्य चिकित्सकों द्वारा सफल होती है। जन साधारण का अधिकांश अल्प शिक्षित वर्ग भी अनुचित रूप से पेनिसिलिन द्वारा स्वतः या किसी नीम हकीम मित्र द्वारा अपने इन रोगों की चिकित्सा करके निश्चित हो जाता है, जिससे कालान्तर में असाध्य जटिलताओं के उत्पन्न होने की आशंका रहती है। प्रायः लोग अब किसी भी सशंक चरित्र के साथ सहवास में हिचकिचाते नहीं, और यदि उनको इन रोगों की याद दिलाई जाय तो वे यही कहते मिलेंगे "अब रतिज रोग रहे ही कहाँ, पेनिसिलिन जैसी राम बाण औषधि तो आ गयी है।" यह विचार कि पेनिसिलिन और वेश्यालयों के समाप्त हो जाने के कारण ये रोग अब विरले हो गये हैं, लोगों को गुमराह कर ता है। और तरुणों की यह पीढ़ी तो इन रोगों के प्रति सर्वथा अन्यमनस्क एवं उदासीन प्रतीत होती है।

स्वास्थ्य अधिकारियों का भी इन्हीं पूर्वा ग्रहों के कारण इस ओर ध्यान कम गया है। देश के राष्ट्रीय स्तर पर संक्रामक रोगों के निवारण एवं उन्मूलन की योजनाओं एवं कार्यक्रमों में रतिज रोगों को समुचित स्थान नहीं मिल सका है। यहाँ तक कि इन रोगों के पूर्ण आंकड़े भी सुलभ नहीं हैं। कलकत्ता, देहली, मद्रास तथा बम्बई इन चार महानगरों के सर्वेक्षण पर ३४००० रोगियों की संख्या अभिलिखित हुई है। देश के विभिन्न रतिज रोग चिकित्सा केन्द्रों में सन् १९४९ में ८ लाख रोगी तथा १९६६ में ३ लाख रोगी आये। जन संख्या में इतनी वृद्धि हो जाने के उपरान्त भी इतनी कम संख्या बतायी गयी है कि इन

चतुर्थ सर्ग

आंकड़ों पर विश्वास करना कठिन है। आंकड़ों का अविश्वसनीय होना कोई असाधारण बात भी नहीं है। यहाँ तक कि एक प्रदेश के स्वास्थ्य अधिकारी ने केवल उस प्रदेश में ९३४ विक्षिप्त सार्वांगिक संस्तम्भ (जी० पी० आई०) के रोगियों की संख्या प्रस्तुत की है जबकि इस जटिलता के रोगियों की संख्या समूचे विश्व में भी इतनी नहीं है। इस आंकड़े बाजी की कला पर कोई टिप्पणी करनी भी निरथक है।

न्यायगत एवं सामाजिक क्रान्तियों ने केलिक्रीड़ाओं और यौनव्यस्तता की पृष्ठभूमि में परिवर्तन ला दिया है। वेश्यालय अब किसी नगर के मुहल्ले में सीमित न रह कर होटलों में, गुप्तावासों में, विभिन्न संघों एवं क्लबों में, सड़कों पर गलियों में चारों ओर असीमित फूट पड़ा है। और ये कुन्तलाणु भी बन्द कमरों से खुली सड़कों पर आ गये हैं। पाश्चात्य सभ्यता इस देश को भी प्रभावित कर रही है। चारित्रिक प्रतिबन्धों का ह्रास एवं विघटन होता जा रहा है। सेक्स, रोमांस, यौनविक्रय एक फैशन गिना जाने लगा है। गरीब, संत्रस्त समाज के लिये मनोरंजन का मुख्य एवं सस्ता साधन भी यही है। नई आक्रोशी पीढ़ी नग्न अश्लीलता को ही सभ्यता का चरमोत्कर्ष समझती है। तमाम राजनीतिक कारणों से भी जन समाज का मानसिक वातावरण अशान्त हो गया है। मूल्य विघटित हो चले हैं, सुरक्षा शब्द खोखला होता जा रहा है। जन संख्या के विस्फोट के कारण जीवन के संघर्ष और दुष्कर हो गये हैं और इस तरह चारित्रिक प्रतिबन्धों में ह्रास, दुराचार, अत्याचार, दुष्कर्म और भ्रष्टाचार सब कुछ मिल जुल कर एक नवीन शिष्टाचार की रचना में रत हो गया है।

सेक्स के अनियन्त्रित उपभोग का वातावरण रजित रोगों के लिये अधिक उर्वर होता है। युद्धकाल में सैनिकों की शारीरिक क्षुधा के लिये ये कुन्तलाणु ही मिल पाते हैं। उद्योगीकरण के इस युग में जन साधारण गावों के विभिन्न कोनों से महानगरों एवं मशीनों के चुम्बक की ओर तेजी से खिचता जा रहा है और उसकी शारीरिक क्षुधा के साधन अपने परिवार से उठ कर सड़कों, गलियों और सड़ांध भरे आवासों में बन जाते हैं। समुद्र यात्री और नाविकों का जीवन भी

परिवार से दूर अनजानों की बाहों में फलता फूलता है। जन संख्या में वृद्धि के कारण रहन सहन की, आवास की, सुरक्षा नहीं रही है तथा लोगों को एक दूसरे के साथ अधिक सम्पर्क और सहवास की सम्भावनायें बढ़ गयी हैं। गरीबी ने यौन विक्रय के मार्ग और खोल दिये हैं अविवाहितों को सम्भोग से गर्भवती होने का जो खतरा था परिवार नियोजन की सुविधाओं ने इस समस्या का भी निराकरण कर दिया। परिवार नियोजन के लिये वांछित है कि विवाह की आयु अधिक से अधिक हो किन्तु रतिज रोगों के निवारण में यह एक रोड़ा बन जाता है। इस प्रकार रतिज रोगों की बहुलता के प्रमुख कारण हैं।

१—वेश्यालय
२—अतिशय काम वासना में लिप्ति (प्रौमिस्कुटी)
३—जन संख्या में वृद्धि और भीड़
४—औद्योगीकरण
५—गरीबी
६—यौन (सेक्स) शिक्षा की कमी
७—अश्लील चल चित्र, उपन्यास, साहित्य इत्यादि
८—समुद्र यात्रा और पोतों पर व्यतीत जीवन
९—मद्यपान
१०—युद्धकाल एवं सैनिक जीवन
११—परिवार नियोजन की सुविधायें
१२—पेनिसिलिन का अनुचित उपयोग

नियंत्रण के उपाय—

१—रोग का शीघ्र निदान एवं तत्काल समुचित चिकित्सा—स्थान स्थान पर रतिज रोग चिकित्सा केन्द्रों की सुविधाएँ जन साधारण को उपलब्ध होना आवश्यक है। उन केन्द्रों के अतिरिक्त भी यदि कोई रोगी किसी चिकित्सालय में आये और किसी सशंक व्यक्तित्व के साथ सहवास की घटना से चिन्तित हो या उससे रतिज रोग के संकेत प्राप्त हों तो रोग के निदान में

विलम्ब करना अवांछनीय है। रोग विनिश्चय के लिये नैदानिकीय प्रयोगशालाओं द्वारा रक्त परीक्षण भी अपेक्षित है। नैदानकीय प्रयोगशाला परीक्षण तथा लाक्षणिक परीक्षण द्वारा रोग विनिश्चय होते ही रतिज रोग की समुचित चिकित्सा प्रारम्भ कर देना श्रेयस्कर है। रोगी को रोग के विषय में पूर्ण रूप से अवगत करा देना उचित है। रोग की अत्यधिक संक्रमण शीलता की ओर रोगी का ध्यान आकृष्ट करना चाहिये और स्पष्ट शब्दों में उसे समझा देना चाहिये जिससे कि रोगी अन्य लोगों को संक्रमित न कर सकें। इस स्थिति में सहवास वर्जित है और इसका पालन अत्यन्त कठोरता से करना आवश्यक है। सहवास की छूट किसी के साथ भी नहीं दी जा सकती चाहे वह अपनी स्त्री हो या पराई अन्यथा कतिपय अन्य स्वस्थ व्यक्ति भी इस रोग के शिकार होंगे और यह श्रृंखला बढ़ती ही जायेगी।

२—दाता रोगी का पता लगाना—रोगी की चिकित्सा के साथ यह भी आवश्यक हैं कि जिस रोगी के द्वारा यह व्यक्ति संक्रमित हुआ उसका पता लगाकर उसकी भी चिकित्सा की जाय अन्यथा वह और व्यक्तियों में इस रोग का प्रसार करता रहेगा। यह कार्य कठिन भले ही हो किन्तु अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करना प्रत्येक चिकित्सक का कर्त्तव्य है। रोगी के अन्य मित्रों के विषय में तथा उन सभी लोगों के विषय में जहाँ से उसे यह रोग प्राप्त हुआ है, चिकित्सक को समूची जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। यहाँ तक कि वेश्यालय या ऐसी संस्थाओं का भी पता लगाना आवश्यक है जिस वातावरण में यह रोग अपना खेमा डाले हुये है। इस तरह प्राप्त सूचना से किसी सम्बद्ध या स्थानीय रतिज रोग चिकित्सा केन्द्र को अवगत करा देना चाहिये जहाँ से उन सभी व्यक्तियों का परीक्षण एवं समुचित चिकित्सा सरलता से उपलब्ध हो सके। इनकी भी चिकित्सा का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। रोगी के पति या पत्नी का परीक्षण एवं यथोचित चिकित्सा को ध्यान में रखना अपेक्षित है।

३—समाज मूलक—वेश्यावृत्ति एवं यौन विक्रय पर न्यायोचित प्रतिबन्ध

लगाना आवश्यक है। वेश्यालय जैसी संस्थाओं का समूल विनाश होना चाहिये।

४—गर्भवती स्त्रियों का परीक्षण—गर्भवती स्त्रियों के परीक्षण के समय उनसे उनके गर्भपातों की संख्या एवं उनका सूक्ष्म विवरण प्राप्त करना चाहिये। सभी गर्भवतियों की रतिज रोग के लिये रक्त परीक्षा (एस० टी० एस०) की जाय। और यदि रतिज रोग का संकेत मिले तो उसकी समुचित एवं पूर्ण चिकित्सा की जाय। रोगिणी किसी भी स्थिति में हो उसकी चिकित्सा आवश्यक है। अतीत में उपदंश से ग्रसित गर्भवती स्त्रियों में कृत्रिम गर्भपात कराने की प्रथा कुछ केन्द्रों में भले ही प्रचलित रही हो किन्तु उपदंश ग्रसित गर्भवती स्त्रियों में कृत्रिम गर्भपात कराने की कोई आवश्यकता नहीं। इससे हानि होने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का कोई लाभ किसी को नहीं होता। गर्भपात से रोग के शरीर के अन्य अंगों में भी विस्तृत हो जाने की आशंका रहती है। चिकित्सा द्वारा जन्मजात उपदंश की संख्या इस प्रकार घटाई जा सकती है।

५—स्वास्थ्य शिक्षा—जन साधारण को रतिज रोग के सभी पहलुओं से अवगत होना चाहिये। रतिज रोग चिकित्सा केन्द्रों में आने वाले व्यक्तियों को इस विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान करनी चाहिये जिससे वे उस ज्ञान का प्रचार अन्य लोगों में भी कर सकें। ब्लाक और प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र के अधिकारियों तथा स्वास्थ्य सेवकों को इस विषय पर ध्यान देना चाहिये और जनता में प्रसार संस्थाओं द्वारा इस विषय से सम्बद्ध ज्ञान प्रस्तुत करना चाहिये। सामूहिक विचार गोष्ठी तथा विचार विमर्श द्वारा उसका प्रभाव अधिक पड़ता है। सूचना विभाग द्वारा चलचित्रों एवं पोस्टरों इत्यादि की भी सहायता लेनी चाहिये। चल चित्र उत्पादकों निर्देशकों एवं उद्योगियों को भी अपनी सिने-कथाओं द्वारा जनता में इन समस्याओं के प्रति जिज्ञासा जागृत करनी चाहिये। उपन्यासकारों, कथाकारों, कवियों, लेखकों इत्यादि साहित्यकारों को भी जन-मानस को स्वस्थ दिशा प्रदान कराने वाला साहित्य उत्पन्न करने का प्रयास

करना चाहिये। आकाशवाणी एवं टेलीविजन भी इन रोगों के नियन्त्रण में अपनी अनूठी महत्ता रखते हैं।

कुछ परम्परागत रूढ़ियों के कारण इस देश के बच्चों को उचित सेक्स सम्बन्धी शिक्षा नहीं मिल पाती। तमाम निषेधों एवं पारस्परिक सम्बन्धों में अनावश्यक दूरियों के कारण बच्चों की सेक्स सम्बन्धी जिज्ञासा विकृत एवं असामान्य हो जाती है। दलित एवं सड़ांध भरे वातावरण में तथा पथभ्रष्ट मित्र मण्डलियों में उनकी जिज्ञासा का प्रायः विकृत समाधान मिलता है। यदि अनुकूल आयु में प्रारम्भ से ही व्यक्ति रतिज रोगों के प्रति सतर्क हो जाय तो यह समस्या सुलझती जायेगी। माँ, बाप अभिभावकों एवं विद्यालय के अध्यापकों का उत्तरदायित्व इस प्रकार अपरिहार्य बन जाता है। प्रारम्भ से बच्चों को उनके जननेन्द्रियों के विषय में जानकारी देते रहना चाहिये। जननेन्द्रियों के विकास से भी बच्चों को धीरे धीरे अवगत होते रहना चाहिये अन्यथा वे अपने यौन विकास को असामान्य समझ सकते हैं। लड़कियों को इस प्रकार मनो-वैज्ञानिक रूप से तैयार कर देना चाहिये कि आने वाले परिवर्तनों को जैसे रजस्वला होना आदि को वह मानसिक स्तर पर स्वीकार कर सके। इस विषय पर बच्चों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का जवाब देते समय कभी भी हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है। आयु के अनुसार काम विषयक शिक्षा एवं रतिज रोगों पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है। और यह योजना रतिज रोगों की शान्ति में अधिक महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार रतिज रोगों का नियंत्रण समाज के सभी विभिन्न अंगों के सहयोग एवं माध्यम से ही हो सकता है और "चार जन चारहूँ दिशा से एक होइ के, मेरु को हिलाई के उखारे तो उखरि जाय।"

राष्ट्रीय रतिज रोग नियंत्रण योजना—अभी तक तो इस योजना की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है। वैसे संयुक्त स्वास्थ्य सचिवालय ने इस योजना

के लिये अपनी विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा निम्नलिखित कदम उठाये हैं—

१—पेनिसिलिन के उत्पादन के लिये हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स पिम्परी की स्थापना।

२—कलकत्ता में प्रतिजन उत्पादन उद्योग।

३—मद्रास एवं सफदरजंग चिकित्सालय नई दिल्ली में रतिज रोगों के निदान एवं उपचार से सम्बन्धि प्रशिक्षण देने की संस्थाओं की स्थापन।

४—लोगों को प्रशिक्षण के लिये केन्द्रीय सहायता।

५—रतिज रोग केन्द्र खोलने के लिये राज्यों को केन्द्रीय आर्थिक सहायता। आदि

हिन्दी-अंग्रेजी शब्द-सूची

अ

अति चलिष्णुता	Hypermobility
अति रक्तिमा	Erythema
अतिवर्धन	Hypertrophy
अधरांगघात	Paraplegia
अधि आरोपित संक्रमण	Superinfection
अधिवृषणिका	Epididymis
अधो अपन मण्डलीय क्षेत्र	Subtropical Areas
अधोत्वचा	Subcutaneous
अधो मूत्रप्रजनन प्रणाली	Lower urogenital tract
अधोस्खलित मूत्रद्वार	Hypospadias
अन्तर अंसफलक क्षेत्र	Interscapular area
अन्तरालीय	Interstitial
अन्तर्मुखी	Undermined, Inroverted
अन्तःसरण	Infilteration
अन्तःशल्यता	Embolism
अन्न नलिका	Oesophagus
अनियमित	Irregular
अनुक्रम	Sequence
अनु निरीक्षण	Follow up

अनुप्रस्थ	Transverse
अनुवेलालित	Coronary
अनुरेखीय	Linear
अनुसंग	Appendages
अनूग्र	Subacute
अपकर्ष	Degeneration
अपघर्षण	Abrasion
अपत्यपथ	Vagina
अयन मण्डलीय क्षेत्र	Tropical areas
अपरा	Placenta
अपस्मार	Epilepsy
अपस्माराभ	Epileptiform
अपक्षारण	Erosion
अभिताड़न	Percussion
अभियोजन	Adjustment
अभिरंजन	Staining
अभिलेख	Record
अभिव्यक्ति	Manifestation
अभिस्तीर्णता	Aneurysm
अभिश्लेषण	Adhesion
अर्जित	Acquired
अरति	Malaise
अवगुण्ठित	Masked
अवपाटिका	Paraphimosis

अवस्था	Stage
अवरोध	Blocking
अवरोही	Descending
अविलयनशील	Insoluble
अवृन्त	Sessile
अष्ठीला	Prostate
अस्थि	Bone
अस्थिशीर्ष प्रदाह	Epiphysitis
अस्थि शोष	Rickets
असम	Asymmetrical
अक्षकास्थि	Clavicle
आकर्णन	Auscultation
आघात	Trauma
आत्म अवयनशील	Autoinoculable
आर्द्र धात्री	Wet nurse
आधार	Base
आन्त्रावरण	Peritoneum
आनयन	Reduction
आनुवांशिक	Hereditary
आमवातीय	Rheumatic
आवर्तिक	Tropical
आवपन	Inoculation
आक्षेप	Fit

उ

उग्र	Acute
उत्तर अवस्था	Late stage
उत्सेध	Bossing
उद्गीर्णन	Regurgitation
उद्भवन अवधि	Incubation period
उद्भेद	Exanthema
उद्रेचन	Effusion
उद्वेष्ट	Convulsion
उद्रस्फोटान्वित रोग	Pemphigus
उन्नतांश	Ridge
उन्मुक्त	Patent
उन्मूलन	Eradication
उपचर्मार्बुद	Epithelioma
उपतारा	Iris
उपदंश	Syphilis
उपरिष्ठ	Superficial
उरःफलकम्	Sternum
उपांग	Appendages
उपाशय	Diverticulum
उल्ब	Vernix caseosa
उष्मायोजित	Incubated
ऊर्ध्व	Upper
ऊर्ध्वस्खलित मूत्रद्वार	Epispadias

ए

एक कोष्ठीय	Unilocular
एक पार्श्वीय	Unilaterial
एकांगघात	Monoplegia
एस० टी० एस०	Standard test for syphilis

अं

अंकुरार्बुद	Papilloma
अंकुरिका	Papule
अंगघात	Paralysis
अंगुलि प्रदाह	Dactylitis
अंडाकार शिश्न पारिवका पेशी	Corpus Cavernosus Muscle

क

कटि कूब्जत्व	Saddle back
कटिबन्ध	Zone
कट्टित	Matted
कणकारी तन्तु	Granulation tissue
कणिकीय	Granular
कनीनिका प्रदाह	Keratitis
कपाली	Cranial
कमस्तिष्क	Cerebrum
कर्कश	Hoarse
कर्णस्राव	Otorrhoea
कर्तनक दन्त	Incisor tooth

कर्दम	Gangrene
करोटि	Skull
करोटि त्वचा	Scalp
कल्किसा	Rubia
कशेरुका	Vertebra
कष्टकर शिश्न प्रहर्ष	Chordee
कायचिकित्सा	Medicine
कारक जीवाणु	Causative organism
किण्वीकरण	Fermentation
किण जन्य	Cicatrical
किणीकरण	Scarring
किरीटीय सीता	Coronal Sulcus
किलाटी भवन	Caseation
कुटिल्लशिराक्षत	Varicose Ulcer
कुन्तलाणु	Spirochaeta
कुनख	Onychia
कुनिर्माण	Malformation
कुपोषण	Malnutrition
कुविकास	Maldevelopment
कुरुपता	Deformity
कुहनी	Elbow
कूट	Shin
कुर्चंकि	Penicillin
केश गर्भ	Hair follicle

केशिका	Capillary
कोथव्रणीय	Phagedenic
कोमलास्थि	Cartilage
कोशिका	Cell
कोशिकास्तरण कला	Cell Membrane
कंडरा	Cartilage
कांचाभ	Hyaline
कांख	Axilla
कृशित	Slender
कृष्ण पट	Choroid

ख

खात	Pitted
खुरण्ड	Crust
खण्डिकामय	Lobulated
खन्दन	Burrow

ग

ग्रन्थि	Gland
ग्रसनी	Pharynx
ग्राम त्यागी	Gram negative
गर्त	Pit
गर्भाकार	Follicular
गर्भाधान	Conception
गर्भावस्था	Pregnancy

गर्भाशय ग्रीवा	Cervix
गर्भाशयस्था	In utro
गर्भाशयान्तःकला	Endometrium
गलदाह	Sore throat
गुप्त	Latent
गुम्बद	Dome
गुल्फ	Ankle
गुह्य गोलाणु	Gonococci
गुह्य मेह	Gonorrhoea
गोलाणु	Coccus
गोंदार्बुद	Gumma
गंडार्बुद	Condyloma
गंडार्बुद विस्तृता	Condylomata lata

घ

घटितव्यता	Incidence
घनास्रता	Thrombosis
घर्षण ध्वनि	Grating
घातकता	Virulence

च

चक्राणु	Vincent' organisms
चतुर्भ्रमय	Tetracyclines
चतुरांगघात	Quadriplegia
चर्मकलंक	Macule

चर्मान्तरिक	Intradermal
चक्षुतारा कनीनिका संयोजन	Synechae
चाप	Pressure
चिह्न	Sign
चांडातिक	Malignant

ज

जटिल	Complicated
जनपदोध्वंसचर्या	Epidemiology
जन्मजात	Congenital
जननांग हर्पीज	Herpes genitalis
जरठ	Indurated
जलकपाल	Hydrocephalus
जलशीर्ष	Hydrocephalus
जलस्फोट	Vesicle
जलातिमुष्क	Hydrocele
जानु	Knee
जारक चतुर्श्रंमय	Oxytetracyclins
जारठ्य	Induration
जीर्णत्वक् यक्ष्मा	Lupus
जीवाणुकी	Bacteriology
जीनितक	Parenchymatous
जीवोतिपरीक्षा	Biopsy

झ

झुनझुनी	Tingling

ट

टग	Tug

ड

डिम्बप्रणाली	Fallopian tube
डिम्बाशय	Ovary

त

त्वक् शोथजनक सपूय पीडिका	Impetigenous
तकनीक	Technique
तट	Edge
तन्तु	Tissue
तन्तुहानि	Tissue destruction
तरंग प्रतीति	Fluctuation
तरंगित	Wavy
तल	Floor
तारा	Pupil
तारावलय	Areola
तारुण्य	Puberty
तालु	Palate
तालुमूल ग्रन्थि	Tonsil

द

द्वितीयक	Secondary
द्विदर कण्टका	Spinabifida
दण्डाणु	Bacillus
दरार	Slit
दल	Cusp
दत्तधु	Dextrose
दुराध्य	Fastidius
दुष्पुष्टि	Dystrophy
दुःश्वसन	Dyspnoea
दौर्बल्य	Debility
दृष्टिस्नायु	Optic nerve

ध

धत्तूरिन	Atropin
धनात्मक	Positive
धमनी अन्तस्तरीय प्रदाह	Endarteritis
धातुनाश	Necrosis
धात्री	Nurse

न

नख	Nail
नाभिवत	Umblicated
नाल	Cord

नासास्थि	Nasal Bone
नासास्राव	Snuffles
नि-वूषण	Palesading
निछिद्रण	Perforation
निदान	Diagnosis
निम्नोदर	Lower Abdomen
निर्मोक	Slough
नियन्त्रण	Control
निरुद्ध प्रकष	Phimosis
निरेयी दर्शेन्यिकाव	Chloramphenicol
निरंकुरित	Dipapillated
निवारण	Prevention
निर्शेक	Cast
निष्फलन	Neutralization
निर्हरण	Aspiration
नौनिक गुहा	Navicular fossa

प

प्लीहा	Spleen
पट	Septum
परामूत्र नलिका प्रदाह	Paraurethritis
परि अस्थि आवरण प्रदाह	Periosteitis
परि कनीनिका	Circumcorneal
परिनख विकृति	Paronychia

परि मूत्र नलिका प्रदाह	Periurethritis
परि रक्त वाहिनी	Perivascular
परिवहन शील	Circulatory
परिवेश	Surrounding
परिसर्पण शील	Serpigenous
पश्चहानव्य	Molar
पसली	Rib
पक्षाघात	Hemiplegia
प्रत्यास्थ	Elastic
प्रतिक्रिया	Reaction
प्रतिजन	Antigen
प्रतिपूय औषधि	Antiseptic drug
प्रतियोगी पदार्थ	Antibody
प्रतिरोध क्षमता	Resistence
प्रतिक्षेप क्रिया	Reflex action
प्रदर्शन	Demonstration
प्रदाह	Inflammation
प्रदाह बद	Inflammatory bubo
प्रपरीक्षण	Investigation
प्रपाद	Limb
प्रफलन	Proliferation
प्रवर्णीभूत	Bevilled
प्रविकार	Lesion
प्रस्पन्दन	Throbbing

पाटलिका उद्भेद	Roseolar rash
पारेषण	Transmission
पार्श्व कपालास्थि	Parietal bone
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक	Early
प्रावेगिक	Paroxysmal
प्लाविका कोशिका	Plasma cell
पिंड	Mass
पिंडली	Calf
पितृक	Paternal
पुनरावृत्त	Recurrent, Relapse
पुरुरूपता	Polymorphism
पूयण	Suppuration
पूयद जीवाणु	Pyogenic organism
पूरण	Healing
पूरित	Healed
पोषण	Nutrition
पंकिल, पृथक्करण	Muddy, Isolation

फ

फिरंग व्रणाभ	Chancroid

ब

बटी	Bullae
बन्दीकरण	Locking

बन्ध्यापन	Sterility
बन्धनी	Band, Bandage
बहिर्भग	Vulva
बहुघटित	Very common
बाल	Juvenile

भ

भगद्वार	Vulva
भगप्रदेश	Vulva
भग शिश्न	Clitoris
भगांजलिका	Fourchette
भगौष्ठ	Labium
भ्रमि	Screw
भा-भीरुता	Photophobia
भित्तवृण	Atheroma
भिदुर	Fragile
भ्रू	Eye Brow
भ्रूण	Foetus
भेदन	Puncture
भंगुरता	Fragility

म

मणिच्छद द्वार	Preputial orifice
मणिच्छद भंज	Preputial fold
मणिबन्ध	Wrist

मद्यात्यय	Alcoholism
मन्दध्वनि	Dull sound
मनोविकार	Mental problem
मनोभ्रंश	Dementia
मर्मध्वनि	Murmur
मलांत्र	Rectum
मस्तिष्क मेरु द्रव	Cerebrospinal fluid (C.S.F.)
मस्तिष्कावरण	Meninges
मस्तिष्कावरणाति वृद्धि	Meningoceel
महाधमनी	Aorta
महाधमनी उद्धोवर्णन	Aortic regurgitation
मातृक	Maternal
माध्यम	Medium
माला कवकिन	Streptomycin
मासिक धर्म	Menstrual cycle
मुख गह्वर	Fauces
मुख गुहा	Buccal Cavity
मुद्रा	Posture
मूढ़ता	Idiocy
मूर्ति पट	Retina
मूलाधार पीठ	Perineum
मूत्र नलिका	Urethra
मूत्राशय	Urinary bladder

मंडलाकार	Round
मंथरपंथ	Snail track
मृत जन्य	Still birth
मृदुतालु	Soft Palate
मृदुभावन	Maceration

य

यकृत	Liver
योनिमार्गीय तुम्बिकाधार	Vestibule
योनिमार्गीय स्राव	Vaginal discharge

र

रक्तचाप	Blood pressure
रक्त निक्षेप	Injection
रक्ताम्बु	Serum
रज्जु तन्तु	Frenum
रजस्वला	Menstruation
रतिज रोग	Venereal disease
रतिज व्रण	Chancre
रदन शूल	Gnawing pain
रुद्ध विकास	Stunted growth
रुधिर परिवहन संस्थान	Cardio Vascular system
रुधिर संभरण	Blood supply
रुक्ष	Hoarse
रेतोनलिका	Spermatic duct

रैतोवाहिनी	Vas deferens
रोग विनिश्चय	Confirmation of diagnosis
रोग प्रतिरोध क्षमता	Immunity
रोहाणिका	Capillary
रंग्याप्रकोप	Iridocyclitis
रंगि पटल प्रदाह	Uveitis
ल	
लघु कपाली	Microcephaly
लम्बवत्	Perpendicular
ललाटास्थि	Frontal bone
लस कणार्बुद रमणम्	Lymphogranuloma venereum
लसकोशिका	Lymphocyte
लस ग्रन्थि	Lymphnode
लसिकावाहिनी	Lymphatic
लक्षण	Symptom
लाक्षणिक निदान	Clinical diagnosis
लोष्ठ	Lump
व	
वर्धी	Vegetative
वलय दद्रु	Ringworm infection
वस्ति	Urinary bladder
वस्ति स्थान च्युति	Ectopia vesicae
वक्षीय कण्ठ	Anginapectoris

व्रण	Sore
व्रण वस्तु	Cicatrix
वा वाघात	Aphasia
विकेन्द्र	Focus
विकृति	Pathology
विघटन	Disorganization
विटप	Pubis
विटप प्रदेश	Pubic area, Pube
विटपास्थि	Pubic bone
विद्युत हृदय लेखाचित्र	Electrocardiogram
विदुर	
विभेद	Differentiation
विभेदी निदान	Differential diagonsis
विराट	Giant
विशिष्ट औषधि	Specific drug
विशिष्ट चिकित्सा	Specific treatment
विषि	Toxin
विस्तार	Expansion
विस्तृत	Expansion
विस्फारित	Dilated
विसजन	Urination
विक्षिप्त सार्वाङ्गिक संस्तम्भ	General Paralysis of Insane (G. P. I.)
वंक्षण प्रदेश	Inguinal Region

वंक्षणीय कर्णार्बुद	Granuloma inguinale
वृक्क	Kidney
वृद्धि	Growth
वृषण, वृहद् भगौष्ठ	Testis, Labia Majora
वृहदमसूरिकाभ	Varioliform

श

श्यामतोत्कर्ष	Cyanosis
श्लेष्मिक कला	Mucous membrane
श्वसनिका	Bronchi
श्वास नलिका	Trachea
श्वासावरोध	Asphyxia
श्वेत शल्कोत्कर्ष	Leucoplakia
शरीर प्रकृति सम्बन्धी	Constitutional
शल्क	Scale
शल्य चिकित्सा	Surgery
शशक	Rabit
शिश्नमणि	Glans penis
शुक्तिछिद्र	Foramen ovale
शुक्ला	Sclera
शुक्लि मूत्रता	Albuminuria
शुण्डिका	Uvula
शुल्वौषधि	Sulfonamide
शूल	Pain

शोथ	Oedema
श्रेणि	Class
शंक्वाकार	Conical

स

स्कन्ध	Shoulder
सार्कोप्टेस स्कैबिश्राई	Sarcoptes Scabie
स्वर्जु	Scabies
स्तब्धता	Blocking
स्थानीय	Local
स्थिरीकृत	Fixed
स्नायु	Nerve
स्नायुमण्डल	Nervous system
स्पर्शण	Palpation
स्पर्शासह्यता	Tenderness
स्पंन्दनशील	Pulsatile
स्फोटान्वित	Bullous
सपूय	Secretion
समाज मूलक	Social
समूह	Group
सरेख	Erythmatous
स्वरयन्त्र	Larynx
सर्वेक्षण	Survey
ससंकुलन हृत् असफलता	Congestive cardiac failure

सहवर्त्ती	Associated
सापेक्ष निदान	Differential diagnosis
सामान्य लवणीय विलयन	Normal saline
सार्वाङ्गिक	General
स्रावण	Ova
सीमाबद्ध	Demarcated
सुषुम्ना	Spinal cord
सूच्यानिक्षेप	Injection
स्रोतस	Sinus
स्रोतसीय क्षत	Cavernous ulcer
संक्रमण	Infection
संक्रान्तिक	Critical
संकुलता	Congestion
संकेन्द्रित	Concentric
संचयकाल	Incubation period
संचरण	Infiltration
संतति	Generation
संदूषण	Contamination
संधिकला	Synovial membrane
संधिस्सीय प्रदाह	Synovitis
सन्यास	Apoplexy
संयोजक तन्तु	Connective tissue
संवर्धन	Culture

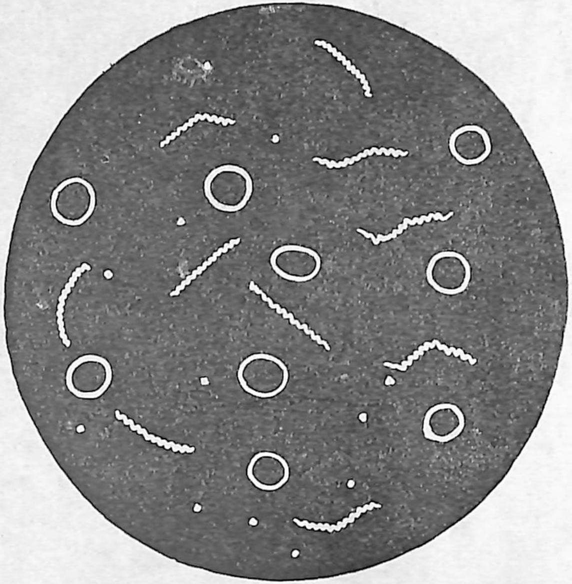
संस्तम्भ	Paralysis
संसगज	Contagious
संहतिकीय	Systemic
स क्षोभ	Irritation

ह

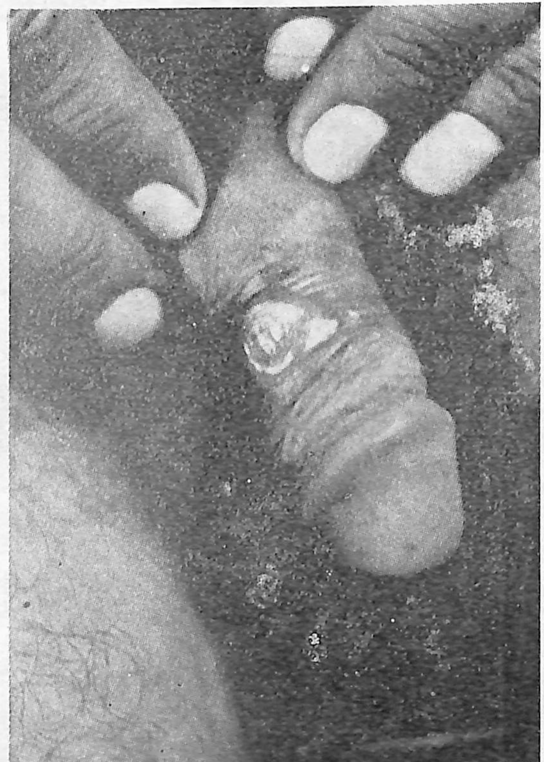
हीन तान्तुक	Difibrinated

क्ष

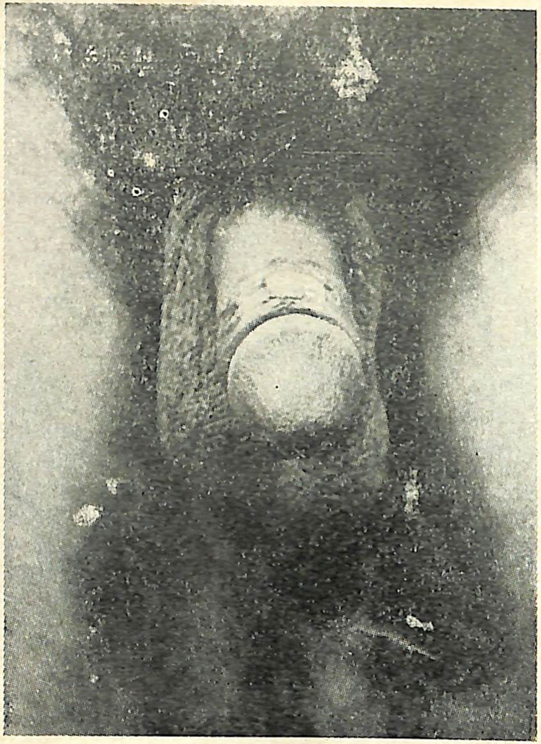
क्षचित्र	Radiograph
क्षतनलिका	Fistula
क्षय	Tuberculosis
क्षुद्र भगौष्ठ	Labia Minora



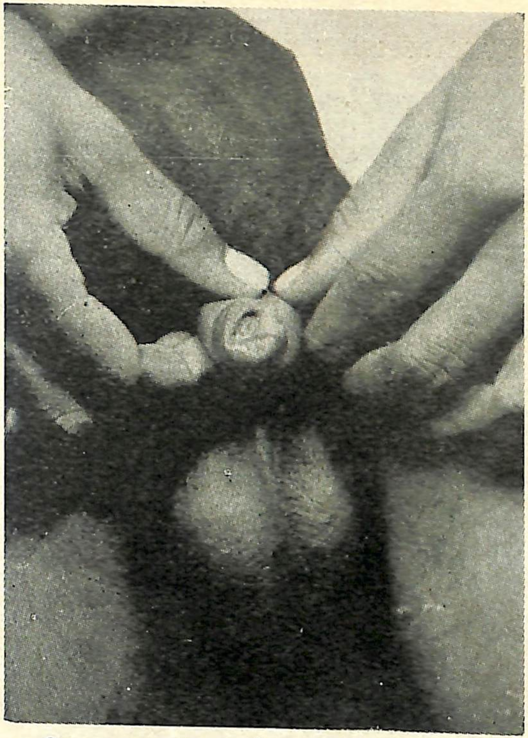
चित्र १. स्पाइरोकीटा पैलिडा (डार्क ग्राउण्ड विधि द्वारा)



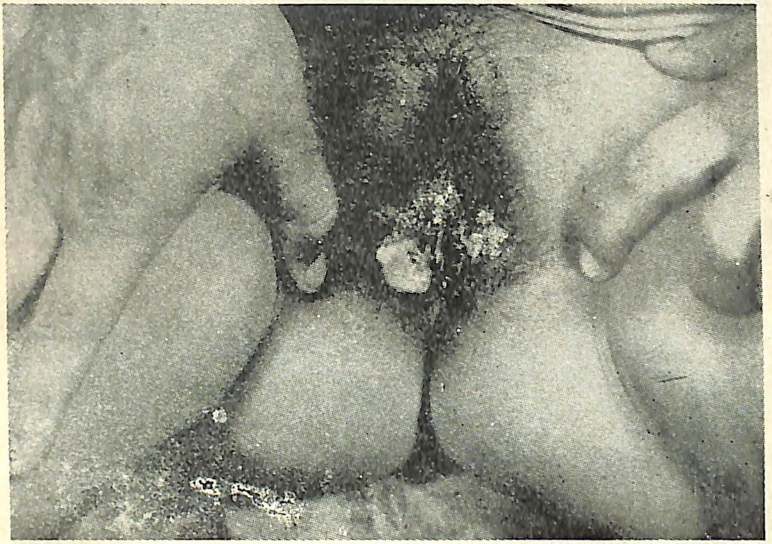
चित्र ३. उपदंश प्राथमिक व्रणः मणिच्छद त्वचा पर



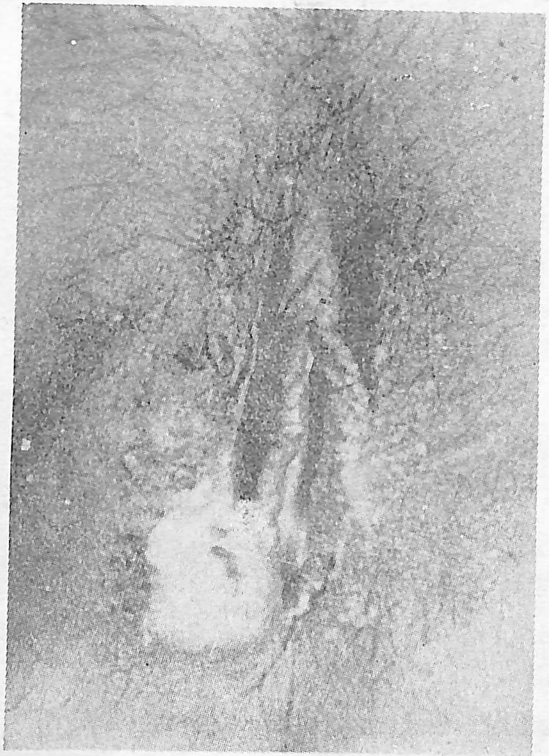
चित्र ४. उपदंश प्राथमिक व्रण: मणिच्छद की श्लेष्मिक कला पर



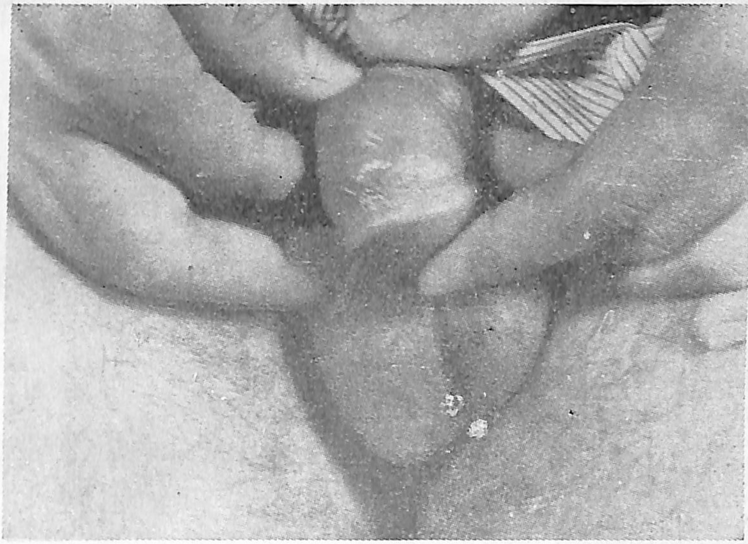
चित्र ५. उपदंश प्राथमिक व्रण : मणिच्छद द्वार पर



चित्र ६. प्राथमिक व्रण : वृहद् भगौष्ठ पर


चित्र ७. प्राथमिक व्रण : वृहद् भगौष्ठ पर

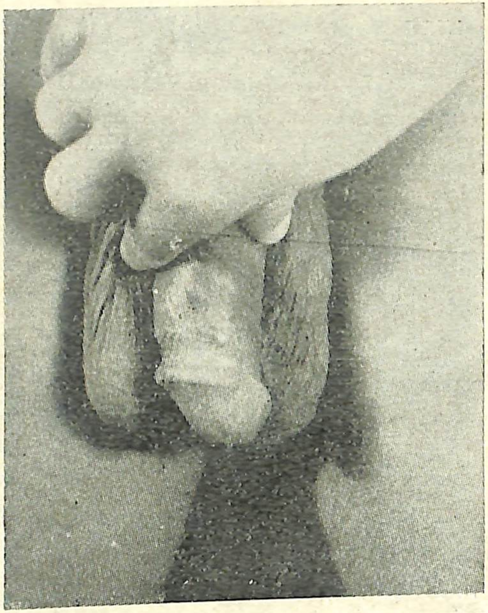

चित्र ८. प्राथमिक व्रण : ऊपरी होठों पर



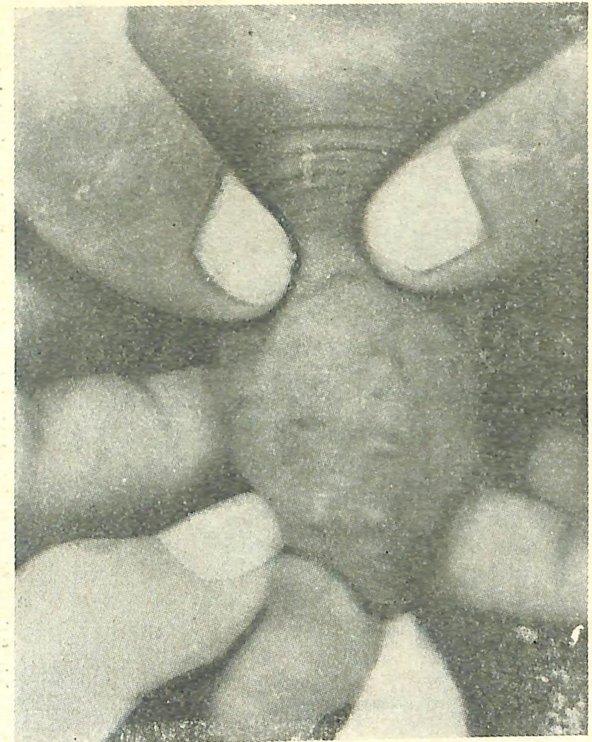
चित्र ९. उपदंश प्राथमिक व्रण : मणिच्छद भंज की परिधि पर



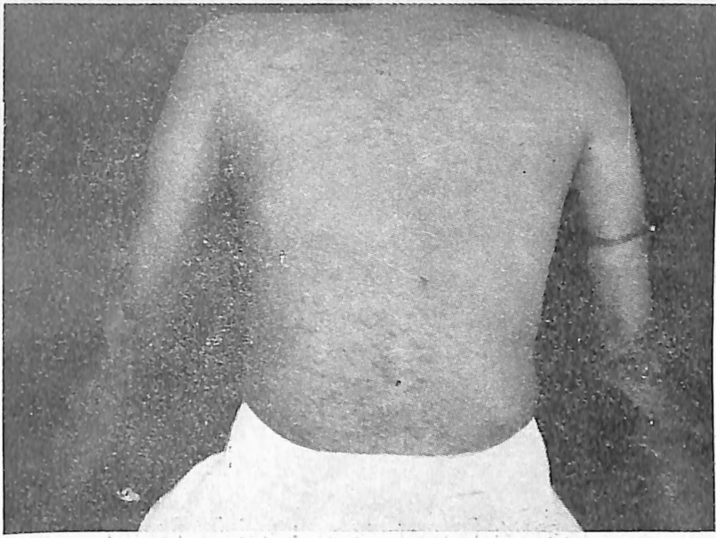
चित्र १०. फिरंग व्रणाभ (शैंकराभ)



चित्र ११. जननेन्द्रिय हर्पीजि



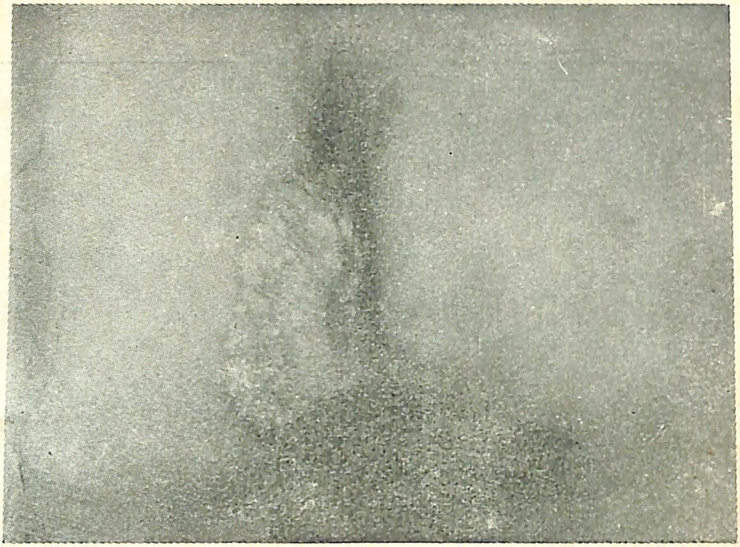
चित्र १२. स्खुर्ज (स्कैबीज)



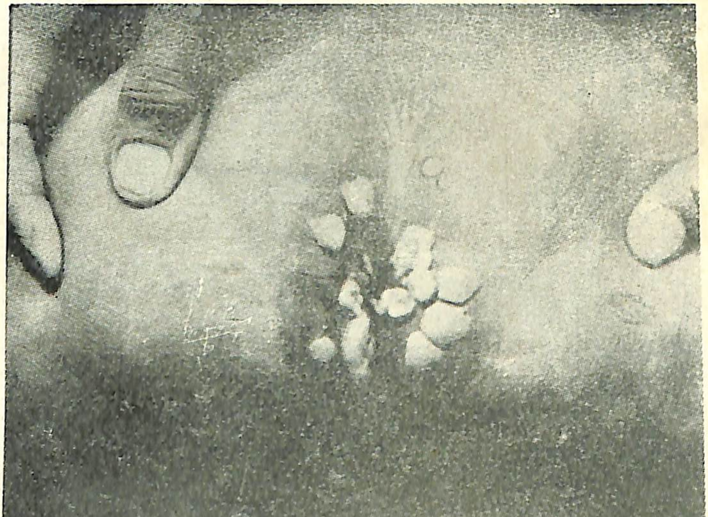
चित्र १३ (क). द्वितीयक अवस्था : अकुंरिका उद्भेद



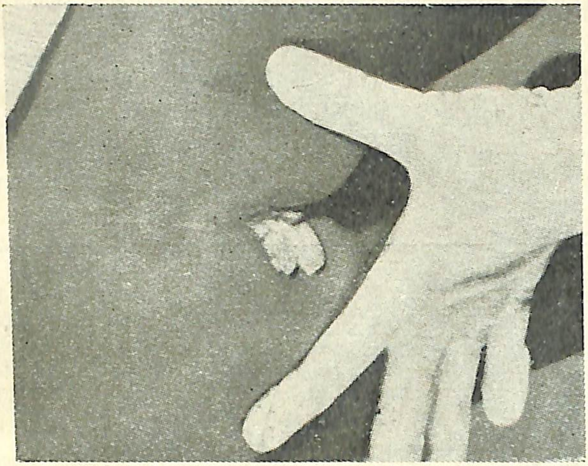
चित्र १३(ख). द्वितीयक अवस्था : अकुंरिका उद्भेद



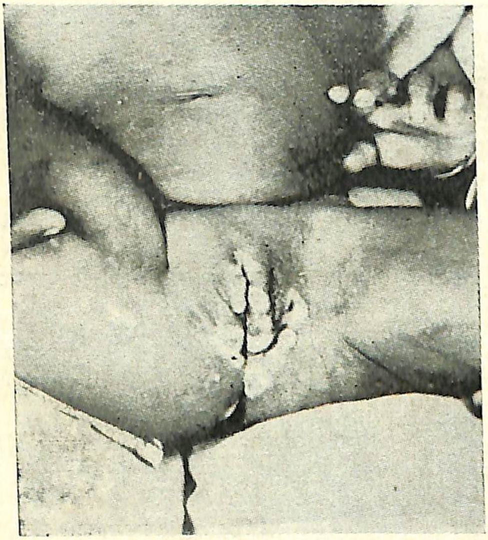
चित्र १४. द्वितीयक अवस्था : गडार्बुद विस्तृता



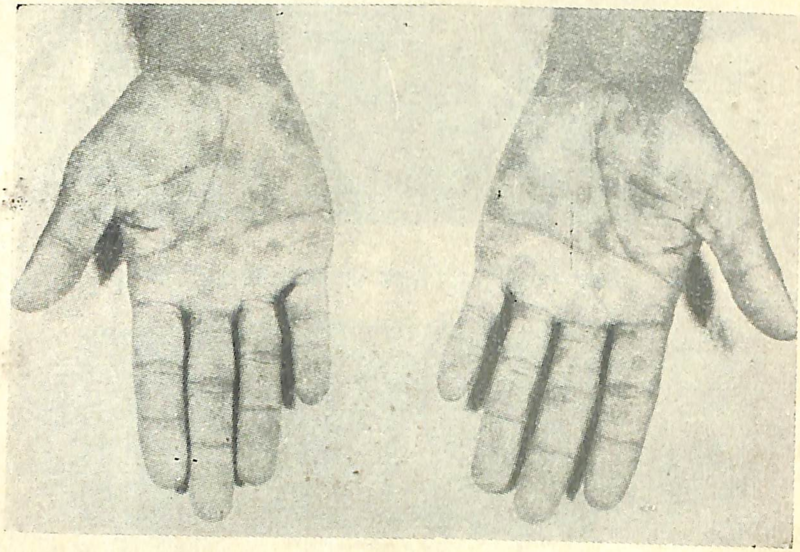
चित्र १५. द्वितीयक अवस्था : गंडार्बुद विस्तृता



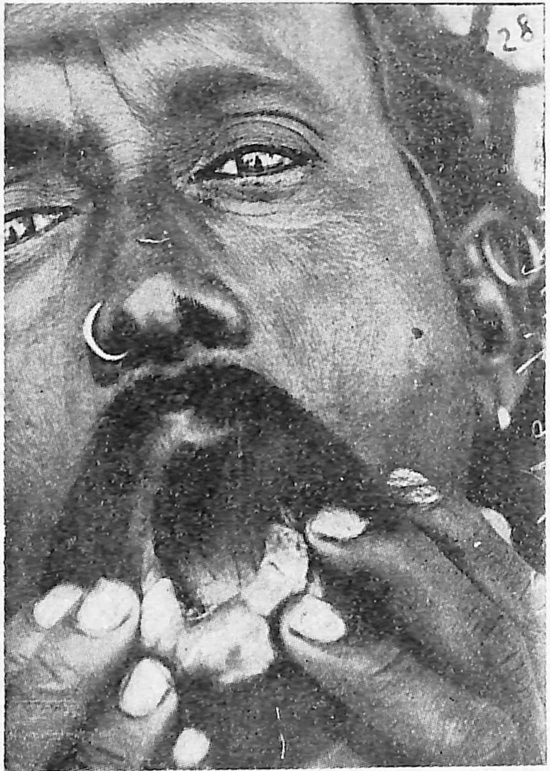
चित्र १६(क). द्वितीयक अवस्था : गंडार्बुद विस्तृता



चित्र १६(ख). द्वितीयक अवस्था : गंडार्बुद विस्तृता



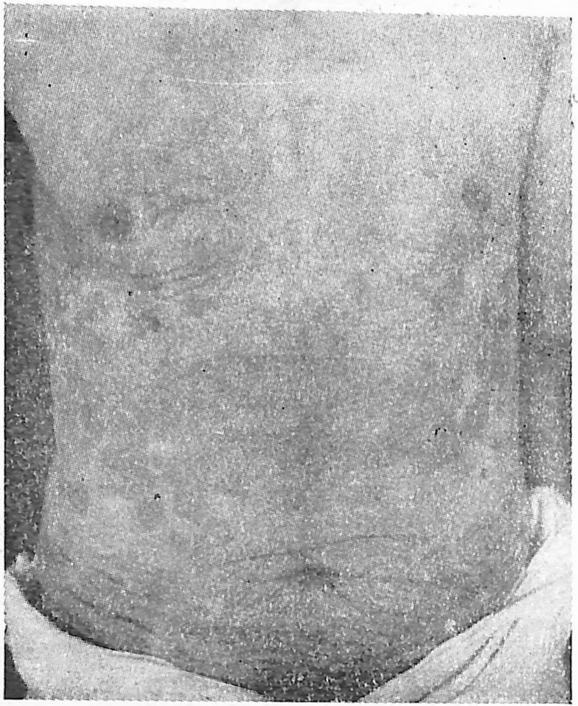
चित्र १७. द्वितीयक अवस्था : हथेली पर धब्बे



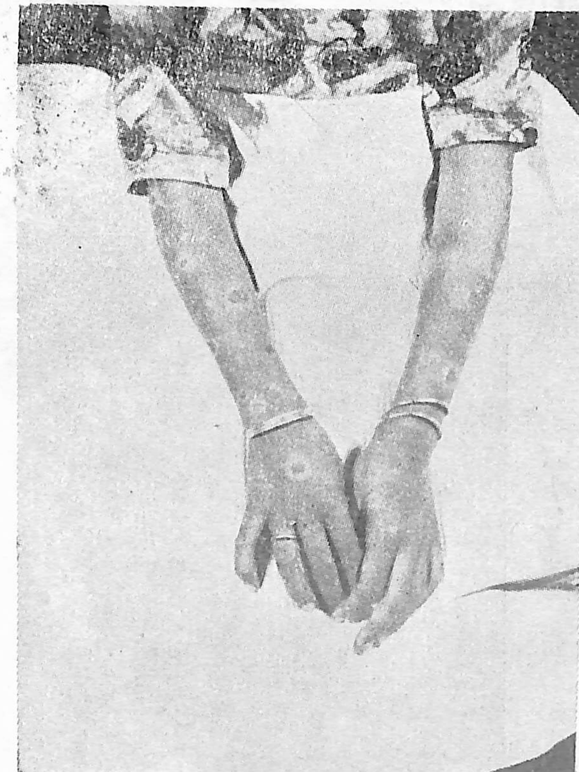
चित्र १८. द्वितीयक अवस्था : होठों की भीतरी सतह पर धब्बे



चित्र १९. द्वितीयक अवस्थाः जिह्वा पर धब्बे



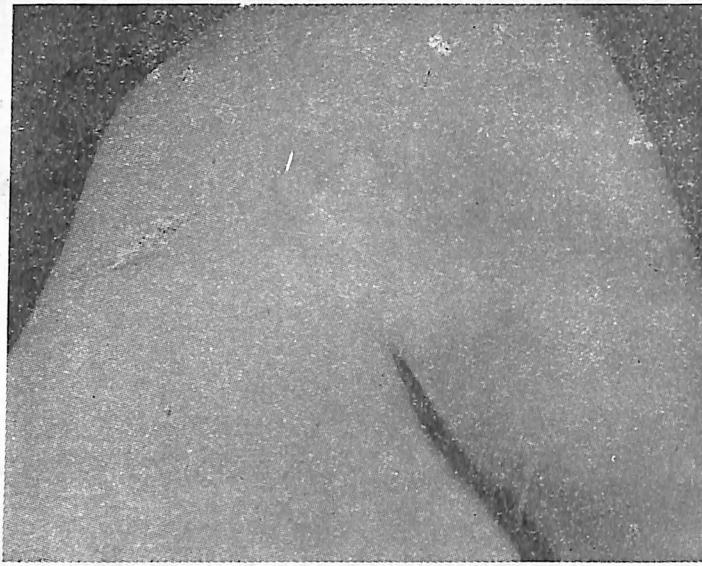
चित्र २०. टीनिया वेसिकुलर



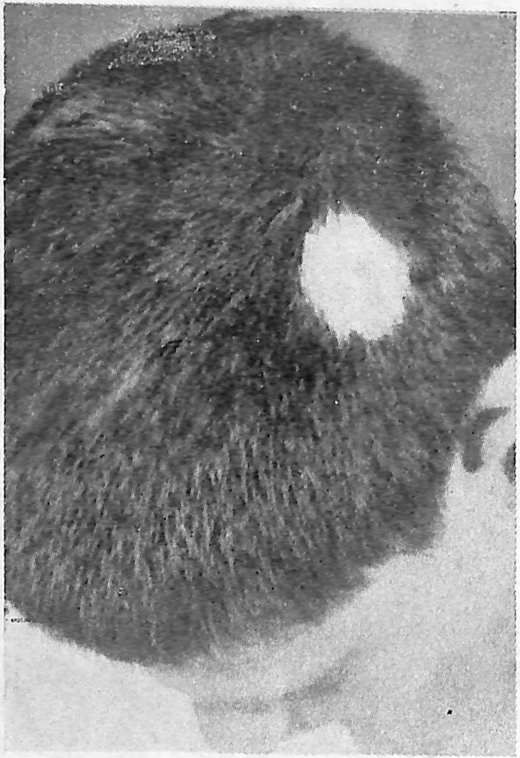
चित्र २१. लाइकन प्लैनिस



चित्र २२. सोरियासिस



चित्र २३. टीनिया सर्सिनेटा



चित्र २८. स्थानीय खल्वाटता



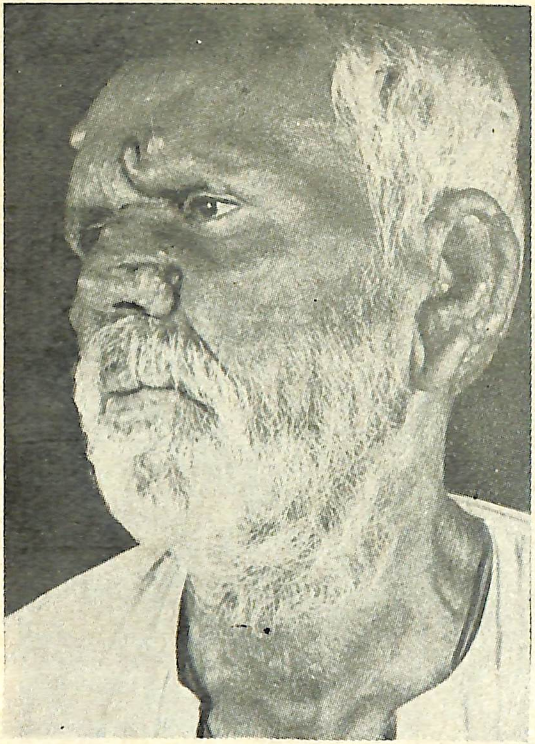
चित्र २५. तृतीयक अवस्था : गोंदार्बुद



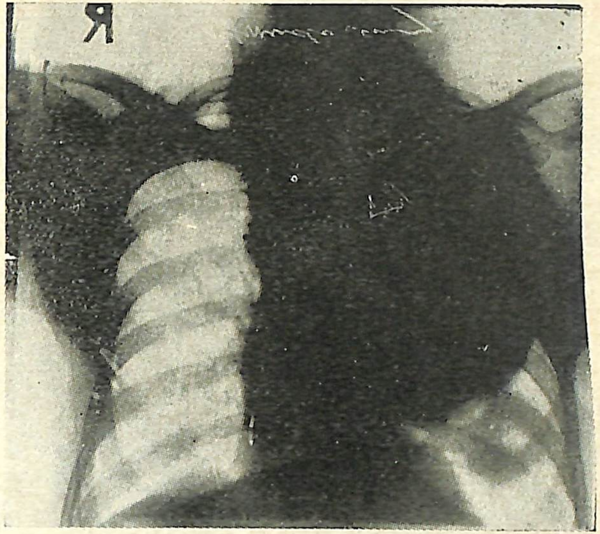
चित्र २६. चर्म यक्ष्मा



चित्र २७. चर्म यक्ष्मा



चित्र २८. कुष्ट रोग



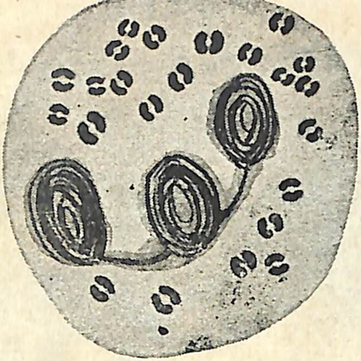
चित्र २९. उत्तर उपदंश : आरोही महाधमनी अभिस्तीर्ण

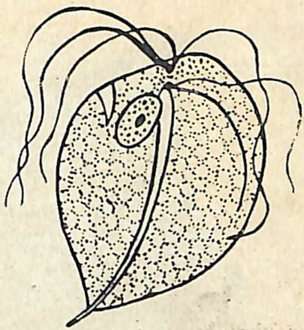


चित्र ३०. जन्म जात उपदंश : हॅचिसन दंत ऊपरी कर्तनको पर

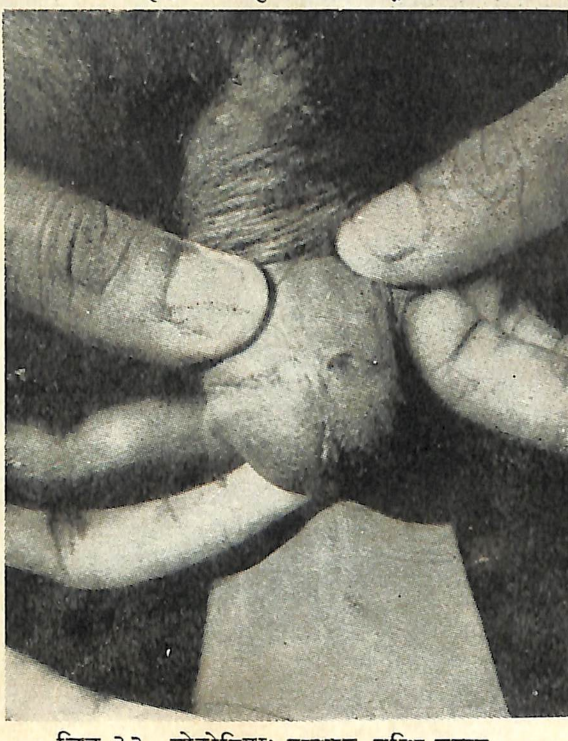


चित्र ३१. गानोरिया : स्पष्ट पूय स्राव जननेन्द्रिय का दबाने पर





चित्र ३२. ग्राम त्यागी गुह्य गोलाणु चित्र ३४. ट्राइकोमोनास वैजाइनेलिस



चित्र ३३. गोनोरिया: टाइसन ग्रन्थि प्रदाह



चित्र ३४. फिरंग व्रणाभ (शैंकराभ)



चित्र ३५. कोथव्रणीय फिरंग व्रणाभ

मूल्य

४.०० रु.